श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

खण्ड 19

।। श्री हरिः ।।

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(खण्ड १९)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनाँसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'।।

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

संस्करण : २००३ मूल्य : २५ रु०

मुद्रक : सुलेख मुद्रणालय, १४८ हीवेट रोड, इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. प्राक्कथन	३
२. छद्मवेषी इन्द्र द्वारा दिति का गर्भोच्छेद	२१
३. मरुद्गण चरित की समाप्ति	३१
४. भगवान में विषमता क्यों?	३८
५. भगवान निर्गुण तथा निर्लेप हैं	४६
६. युधिष्ठिर नारदजी सम्वाद	५३
७. जय विजय के शाप का कारण	६४
८. भाई के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु का श्रीहरि पर क्रोध	७०
९. हिरण्यकशिपु का अपने सम्बन्धियों को धैर्य देना	७६
१०. यमराज और प्रेतबन्धुओं का सम्वाद	८३
११. सबके रक्षक श्रीहरि ही हैं	९०
१२. दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है	११४
१३. आत्मा शरीर से भिन्न हैं	१२१
१४. स्वपराभिनिवेश अज्ञानजन्य है।	१३०
१५. हिरण्यकशिपु की तपस्या	१३६
१६. हिरण्यकशिपु को दुर्लभ वरों की प्राप्ति	१४३
१७. हिरण्यकशिपु का अनुपम ऐश्वर्य	१५१
१८. दुखित देवों पर दीनबन्धु की दया	१६१
१९. भक्ताग्रगण्य प्रहलादजी	१७०
२०. भगवद्भक्तों की दशा	१७५
२१. पिता पुत्र में मतभेद	१८२
२२. प्रहलाद के उत्तर से गुरुपुत्रों का कोप	१९१

प्राक्कथन

तेजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नाष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थहक्पुमान्।। ✯

(श्री० भा० ११ स्क० २८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

प्रभु जड़ चेतन माहिँ व्याप्त हरिमय जग देखें।
परमारथ पथ पथिक पृथक्ता पक्ष न पेखें।।
भिन्न भाव भव माहिँ भ्रमावें बन्ध करावें।
देखे जे गुण दोष न ते पुनि प्रभुपद पावें।।
करे चित्त जस भावना, तस पावे यह जीव तन।
भले बुरे हिय भाव जो, उठें होहि तद्रूप मन।।

"भागवती कथा" के सोलहवें खण्ड में मैंने एक 'प्राक्कथन' के सम्बन्ध में 'निवेदन' किया था और उस पर पाठकों से सम्मति माँगी थी। सब पाठकों के तो उत्तर आये नहीं किन्तु बहुत से पत्र आये। जितने पत्र मेरे पास आये उनमें से एक भी ऐसा नहीं आया, जिसमें 'प्राक्कथन' लिखने में असम्मति प्रकट की हो।

✯ श्री भगवान् उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव ! इन्द्रियाँ निद्राग्रस्त राजस् अहङ्कार के कारण से होती है। तब शरीरस्थ जीव या तो चेतना शून्य होकर स्वप्न रूप माया को प्राप्त होता है अथवा सुषुप्ति रूप मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् निद्रा आने पर मन या तो स्वप्न के पदार्थों में जीव को भटकाता है या गहरी निद्रा में मृतकवत् होकर पड़ा रहता है। उसी प्रकार जो दूसरों की निन्दा स्तुति करता है ऐसा भेददर्शी पुरुष या तो विक्षेप को प्राप्त होकर या लय को प्राप्त होकर स्वार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह कि उसको या तो स्वर्गादि जीवों की प्राप्ति हो जायगी या चौरासी के चक्र में पुनः-पुनः पिसता रहेगा। मोक्षमार्ग से वह गिर जायगा।"

एक सज्जन ने बड़ी सुन्दर बात लिखी। उन्होंने लिखा—

"आपके प्रथम खण्ड में ही यह बात लिखी थी कि मैं कुछ नहीं लिखता, भगवान् जो लिखाते हैं, वही लिख देता हूँ। वे जो लिखायेंगे लिख दिया करूँगा। फिर यह सम्मति असम्मति का प्रश्न ही क्यों उठा? पाठकों में अनेक प्रकार के होते हैं, कोई कुछ कहेंगे कोई कुछ। इसलिये आप किसी की सम्मति की प्रतीक्षा न करके जो भगवत् प्रेरणा हो वह करें। भगवान् लिखावें तो लिखें न लिखावें न लिखें।" यह बात बड़ी ही सुन्दर कही। जीव में यही तो एक बड़ी भारी त्रुटि है, वह एक बार तो बुद्धि से विचार कर निश्चय करता है। सब भगवान् करते हैं किन्तु फिर बहक जाता है। फिर अपने कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। इसकी सम्मति लेने में 'प्रशंसा सुनने की भावना' निहित थी। 'मेरी कृति का लोग आदर करते हैं या नहीं।' अच्छा, यह भी भगवत् प्रेरणा ही होगी। पाठकों के मुख से ही कहलाकर पुनः प्रेरित करना चाहते होंगे। प्रभो! ऐसी कृपा करो तुम्हारे कार्यों में मुझे अपने पन का अभिमान न हो।

'भूमिका' 'प्रस्तावना' 'प्राक्कथन' 'दो शब्द' 'अपनी बात' 'मुख बन्ध' 'प्राथमिक वक्तव्य' आदि-आदि नामों से पुस्तकों में जो मुख बन्ध लिखा जाता है, उसमें दो बातें होती हैं, पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में और पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध में। अब एक तीसरी बात का भी समावेश हो गया है, पुस्तक की छपाई प्रकाशन की सुविधा असुविधा का दिग्दर्शन कराना। इन तीनों बातों में मुझे अपने प्राक्कथन में कौन-सी बात लिखनी है। पुस्तक के विषय में क्या लिखूँ, प्रत्येक अध्याय के पूर्व एक छोटी-भी भूमिका रहती है। छपाई आदि के सम्बन्ध में प्रकाशकीय वक्तव्य में समय-समय पर प्रकाश डाला ही जाता है। अब रह गई अपनी बात। सो, अपनी क्या बात लिखूँ? कुछ बन्धु स्नेहवश लिखते हैं अपने चरित्र

का कुछ दिग्दर्शन कराया करें। चरित्र तो चरित्रवानों का लिखा जाता है। मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मैं वैसा चरित्रवान् पुरुष अपने को नहीं समझता। कुछ कहते हैं—"अपने अनुभव लिखो जिससे दूसरे परमार्थ पथ के पथिकों को कुछ लाभ हो। अनुभव बुद्धिमान् पुरुषों को दो ही कारणों से होते हैं—

'बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया'

मनुष्यों को आयु की वृद्धि से तथा गुरुजनों की सेवा से स्वयं ही बुद्धि आ जाती है। उसे अनुभव होने लगते हैं। गुरुजनों की सेवा तो इस जीवन में हो नहीं सकीं। हाँ, आयु की वृद्धि से अनुभव अवश्य हुए। अपने प्राचीन पापों का प्रायश्चित्त करने की बातें सोच रहा हूँ। मैंने अनुभव किया, परमार्थ पथ में परदोष दर्शन से बढ़कर कोई पाप नहीं है। दूसरे के जिस दोष का हम मन में चिन्तन करेंगे, वाणी से उसे कहेंगे। उसके संस्कार हमारे जीवन में अवश्य पड़ेंगे, अवश्य पड़ेंगे, बिना पड़े रहेंगे नहीं। दर्पण के सम्मुख जो आवेगा उसी का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार गुणों का भी। हम किसी के गुणों की प्रशंसा करेंगे तो वे गुण हम में कभी-न-कभी अवश्य आवेंगे और उनके पुण्य हमें लाभ में मिलेंगे। इसी प्रकार जिसके दोषों का हम वर्णन करेंगे, चिन्तन करेंगे वे दोष हमसे कभी-न-कभी अवश्य आवेंगे और उसके पापों में भी भागीदार होना पड़ेगा। एक साधु को सुन्दर बढ़िया भवन में भी बड़े ठाठ-बाठ से हुक्का पीते देखकर एक साधक ने उसकी निन्दा की। दूसरे महात्मा ने कहा—"अरे, ऐसा मत कहो। नहीं तुझे भी एक दिन ऐसा ही होना पड़ेगा।" कुछ लोगों का कहना है—"सत्य बात कहने से क्या दोष? दोष वाच्या: गुरोरपि? जब तक हम निन्दित काम वालों की निन्दा न करेंगे, तब तक वे निवृत्त कैसे होंगे? समाज की व्यवस्था कैसे समुचित रूप में रहेगी?" ये बातें अपने

दोषों के समर्थन के लिये हैं। निन्दा करने से कौन पापों से निवृत्त हुआ है? फिर जो अधिकारी हों, जिनमें दण्ड देने की सामर्थ्य हो, उनके लिये तो यह भी कहा जा सकता है, जिसे सबको अभयदान देकर न्यस्त दण्ड होकर परमार्थ के पथ की ओर अग्रसर होना है, उसे दूसरों के दोष देखने और उनका प्रचार करने का अवसर ही कहाँ है। यदि वह दूसरों के दोष देखता है तो मानों वह परमार्थ पथ की ओर अभी एक पग भी नहीं बढ़ा। यह ध्रुव सत्य है, मेरी अनुभूत बात है। जो जिस बात को सोचेगा, उसका उसके मन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। यह सृष्टि संकल्पमयी है। इसलिये वैदिक ऋषि नित्य वेद मन्त्रों से प्रार्थना करते थे, मेरे संकल्प शुभ हो। अपने त्याग वैराग्य के मिथ्याभिमान वश मैंने दूसरों की जो निन्दायें की वे सब मुझमें आ गई है। जिन अपराधों के लिये मैंने अपने साथियों की अत्यधिक भर्त्सना की, उनसे बड़े-बड़े प्रायश्चित्त कराये, वे सब अपराध किसी-न-किसी अंश में मुझमें आ गये। जिनके दर्शन और स्पर्श से व्रत भङ्ग होता है, अत्यन्त लज्जा, दुःख और ग्लानि के साथ मैं स्वीकार करता हूँ कि उनसे मैं निर्मुक्त न रह सका और मेरी भावना सर्वथा विशुद्ध भी नहीं बनी रही। अपने शरीर का रक्त निकाल कर उसके द्वारा हस्ताक्षर करके मैंने स्वयं और अपने साथियों से कामिनी काञ्चन स्पर्श न करने की प्रतिज्ञायें कीं और कराई मेरे जीवन में एक आडम्बर मात्र शेष रह गया। धन के विषय में मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मैं कभी किसी से धन की याचना करूँगा या उसके लिये चिन्ता करूँगा किन्तु अब दोनों बातें हो रही हैं। धन के लिये मुझे सङ्कल्प भी देना पड़ता है। हाथ से स्वयं न छुओ, दूसरों से छुआओ। हाथ से न रखो दूसरों से रखाओ। एक ही बात है सेठ साहूकार भी बाँधे नहीं फिरते। बैङ्कों में कोषाध्यक्षों के पास ही रखते हैं। यही दम्भ

ब्रहचर्य के सम्बन्ध में समझो। केवल 'अध्यवसाय' मात्र से निवृत्त होना ही तो ब्रह्मचर्य नहीं। स्मरण, दर्शन, स्पर्श आदि से भी तो निर्मुक्त रहना चाहिये। सो रहा नहीं। ये विषय ऐसे हैं कि स्पष्ट कहे भी नहीं जा सकते और परमार्थ में कहे बिना काम चलता भी नहीं। अत: श्रेष्ठ तो यही है कि—

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा।
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।।

दूसरे के गुण दोषों का चिन्तन त्यागकर निरन्तर सेवा कथा के रस पान में ही लगे रहो। यदि किसी प्रकार ऐसा न हो तो गुण-ही-गुण देखे। दोषों की उपेक्षा कर दे। यह सम्भव नहीं, किसी में कोई गुण न हो। यदि हमारी वृत्ति गुण देखने की ओर लग जायगी तो सबमें कुछ-न-कुछ गुण दीखने ही लगेंगे। दोष देखने का स्वभाव पड़ जाय तो ऐसा एक भी न दीखेगा जिसमें दोष दिखाई न दें। गुणों की अपेक्षा दोषों का प्रभाव अधिक पड़ता है। पुण्य कर्मों की अपेक्षा पाप कर्मों का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सहस्त्रों वर्ष तप करो, ब्रह्मचर्य से रहो, पलभर में ब्रह्महत्या, सुरापान या गुरुपत्नीगमन जैसे महा पाप बन जायँ, सब पुण्य समाप्त। पाप तो क्षण भर में हो गया, उसे भोगने को कई युग, लाखों करोड़ों वर्ष चाहिये।

हम अभिमानवश कहते हैं—"हम पापियों की दुराचारियों की निन्दा इसलिये करते है कि वे दोष हमसें न आने पावें। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैं भी निन्दा करता था, करता हूँ, किन्तु यह तो मुख पर तमाचा मारकर उसे लाल करने के समान है। हम अपने मुख पर कसकर तमाचा मारें तो मुख कुछ काल के लिये लाल अवश्य हो जायगा, किन्तु वह ललाई क्षणिक होगी। उसकी वेदना बनी ही रहेगी। इस प्रकार बुरे लोगों की क्रोध में भरकर बुराई

की जाय तो कुछ काल को उस बुराई के प्रति घृणा अवश्य होगी, किन्तु उसके संस्कार हमारे मन में शेष रह जायँगे और अवसर पाते ही वे बुराइयाँ हमसे अवश्य प्रकट होंगी। पृथ्वी में बहुत-सी वस्तुओं के बीज पड़े रहते हैं, जो दिखाई नहीं देते। चैत्र वैशाख में उष्णता के कारण सर्वत्र स्वच्छ दिखाई देता है। जहाँ वर्षा हुई, अनुकूल अवसर आया कि वे बीज अंकुरित हो उठते हैं। और अपने जैसे और भी अनेक बीजों को उत्पन्न करते हैं। बुराई से बुराई नष्ट नहीं होती। हमारा चिन्तन ही भजन है। हम जो सोचते है—"मानों वही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। मरकर हम उसी लोक को प्राप्त होंगे जिसे इस जन्म में प्राप्त कर लेंगे। कुण्डलिनी योग के मतानुसार हमारे शरीर में षड्चक्र हैं। उन चक्रों में भिन्न-भिन्न वर्ण, देवता, तथा लोकादिकों की कल्पना है। उस शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है हम जिस स्थिति को यहाँ प्राप्त कर लेंगे, वही हमें वहाँ प्राप्त होगी। जो पैदा करेंगे उसे ही बैठकर खायेंगे। कौन-सी गति प्राप्त होगी, यह सहज ही अपने मत के विचारों से जानी जा सकती है। जो निरन्तर घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार की ही चिन्ता करता रहता है, उसे फिर यहीं आकर जन्म लेकर ये वस्तु प्राप्त होंगी, जो निरन्तर स्त्री में आसक्त रहता है उसे वही प्राप्त होगी। जो धर्म का सेवन करता है, मन में धर्म की ही चिन्ता करता रहता है उसे स्वर्गादि धर्मलोक प्राप्त होंगे। जो शून्य की भावना करता है, वह शून्य में विलीन होगा, जो निरन्तर भगवत् भावना में भावित रहता है उसे भगवत् लोकों की प्राप्ति होगी। बाहर ज्योतिषी से पूछने की आवश्यकता नहीं। अपने मन को ही देखो उसी से हमें अपनी स्थिति का पता चल जायगा। बहुत से साधक चिरकाल तक साधना करते हैं, उन्हें मन का ही पता नहीं चलता। मन को मनन किया जाय, अपने विचारों, कार्यों पर निरन्तर ध्यान रखा जाय तो

अपने मन की स्थिति का पता चलता है। पूर्वजन्मों के संस्कारवश मैं अति छोटी अवस्था से भगवान् की सेवा पूजा में प्रवृत्त रहता था। गाँव छोड़कर जब नगर में आया तो मुझे एक आर्य समाजी बन्धु का साथ हो गया। उन्होंने उन्नति की जो वक्तृता दी उसने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। मेरे विचारों में समाजीपन आ गया। मेरी ठाकुर पूजा सेवा सब कुछ छूट गई। यहीं तक नहीं भगवत् सेवा पूजा आदि का खण्डन करने लगा। तब तक मैंने पुराण पढ़े नहीं थे, किसी ऋषि की इधर-उधर से कथा सुन ली, उसी का खण्डन करने लगे। ऋषि क्या थे? व्यभिचारी थे, जो अपने मन को इतना भी नहीं रोक सकते। तनिक-सी बात पर फिसल जाते थे। यह मद अधिक नहीं दो तीन वर्ष रहा। जब जेल में मनन करने का अवकाश मिला तब अपनी भूल प्रतीत हुई। अब तो मेरे जीवन का आधार ही पुराण हैं। ईश्वर तुल्य ऋषियों की जो निन्दा की उसका फल भोग रहा हूँ। मैं अपने मन पर, संकल्प पर, इच्छा शक्ति पर अधिकार नहीं कर सकता हूँ, जितना विचारता हूँ उतना ही अपने को पतन की ओर जाते देखता हूँ। यही सहारा है कि भगवान् अपने परम पावन चरित्रों के लिखाने का अवसर दे रहे हैं।

कुछ लोग कह देते हैं—"अजी, चिन्तन से क्या होता है। कलियुग में मानस पाप नहीं होते।" किन्तु मानस पाप वही है जो मन में ही उदय हुआ मन में ही विलीन हो गया,न ज्ञानेन्द्रियों से उनका सम्बन्ध हुआ न कर्मेन्द्रियों ने उसके लिये किया। हम किसी को नेत्रों से देखते हैं, वाणी से कहते है, कर से स्पर्श करते हैं। यह मानस पाप तो नहीं है। हम मौन रहकर भी निन्दा से नहीं बच पाते। यदि इससे किसी प्रकार बच सकें, बाहर की ओर न देखकर अपनी ओर ही देखें, बाहरी व्यक्तियों के दोष न खोजकर अपने दोष खोजें तो हम परमार्थ की ओर अधिक बढ़ सकते हैं। यह सृष्टि

सङ्कल्पमयी है। कल्पवृक्ष के नीचे शुभ सङ्कल्प करो वे तुरन्त मूर्तिमान हो जायँगे, अशुभ करो तो वे हो जायँगे। जान में अनजान में कैसे भी सङ्कल्प हों, कल्पवृक्ष के नीचे व्यर्थ नहीं हो सकते। सोचो—"भोजन आ जाय, भोजन आ गया। सोचो सिंह आ जाय मुझे खा जाय तो सिंह आ जायगा खा जायगा। संसार में भी यही है। सृष्टि सङ्कल्प से ही चल रही है। बड़े-से-बड़े पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तनिक से असत् सङ्कल्प से प्राणी उससे पतित हो जाता है। इस सम्बन्ध की एक बहुत ही सुन्दर कथा जिस दिन यहाँ शरदोत्सव मनाया था, उस अवसर पर पूज्यपाद श्रीहरि बाबाजी ने सुनायी थी। उससे विदित हो जायगा कि उत्तम लोक में भी यदि असद् सङ्कल्प हो जायगा तो उसका भी तत्काल फल भोगना पड़ता है, वह कथा इस प्रकार है :—

एक राजा की राजसभा में एक संन्यासीजी ने प्रवेश किया। संन्यासीजी के पास पिंजड़ा में एक पक्षी था। राजा ने उठकर संन्यासीजी का आदर किया और पूछा—"महाराज! आप संन्यासी होकर इस पक्षी को क्यों लिये फिरते हैं? इस पक्षी में कौन-सी विशेषता है?"

संन्यासी ने कहा—"यह पक्षी स्वयं ही अपनी कथा कहेगा।"

राजा ने यह सुनकर पक्षी से कहा—"हे पक्षी रूप में देवी जी! यदि आप अपनी कथा सुनाने में समर्थ हों तो हम सबको अपनी कथा सुनावें।"

यह सुनकर पक्षी दैवी मानुषी भाषा में बोली—"राजन्! मैं आपको अपनी कथा सुनाती हूँ। पूर्वकाल में जब भगवान् बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्त घोर तप कर रहे थे उन्हीं दिनों बोधि गया के समीप एक छोटे भूमिपति राजा थे। उनकी

पत्नी का नाम सुजाता था। राजा के कोई सन्तान नहीं थी, रानी सुजाता ने वनदेवता से प्रार्थना की कि यदि मेरे पुत्र हो जाय तो मैं आपकी विधिवत् पूजा करूँगी।'' वन देवता की कृपा से उनके एक पुत्र हो गया। अब वनदेवता का सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट पायस (खीर) बनाकर पूजा करती थी। राजा के सहस्त्रों गायें थीं, सहस्त्रों बीघा खेत थे। उन्होंने सुन्दर उत्तम जाति के धान मँगाकर ५०० खेतों में बुआये। फिर उनमें से जो अति उत्तम बीज थे, उन्हें २५० खेतों में, उनमें से भी छाँटकर १०० खेतों में, फिर उनमें से जो अत्यन्त उत्तम धान थे, ५० खेतों में फिर पाँच खेतों में, तब एक खेत में धान बोये। सारांश इतना ही है कि सर्वोत्तम चावल थे। इसी प्रकार का सुन्दर-सुन्दर स्वस्थ नीरोग अधिक दूध देने वाली ५०० गौओं को मीठी-मीठी घास तथा घुँघचियों की लतायें खिलाईं जिनसे उनका दूध स्वादिष्ट हो जाय। उन सबके दूध को दुहकर उसे १०० अत्यन्त सुन्दरी गौओं को पिलाते, उन्हें जल के स्थान पर दूध ही पिलाते जिससे उनका दूध स्वादिष्ट और गाढ़ा हो जाय। फिर १०० गौओं के दूध को २५ गौओ को पिलाते। उनके दूध को पाँच गौओं को पिलाते जिससे वह दूध अमृत के समान स्वादिष्ट बन गया। उस दूध की उन चावलों से सुजाता देवी ने वनदेवता की पूजा करने को परम प्रेमयुक्त होकर पायस बनाई। सुवर्ण के कटोरे में रखकर वह सोलहू श्रृङ्गार करके वनदेवता की पूजा करने चली। प्रथम उसने दासी को भेजा कि जाकर वनदेवता के मन्दिर को झाड़-बुहारकर स्वच्छ करे।

बोधि वृक्ष के निकट ही एक जीर्ण-शीर्ण प्राचीन वनदेवता का मन्दिर था। दासी उस मन्दिर को स्वच्छ करने लगी तो सम्मुख पद्मासन लगाये भगवान् बुद्ध को देखा, भगवान् बुद्ध राजकुमार थे, परम सुन्दर थे, युवक थे, घोर तपस्या करने से उनके सम्पूर्ण शरीर

से दैवी तेज निकल रहा था। वे आसन लगाये निश्चय भाव से विराजमान् थे। दासी देखकर भौचक्की रह गई, उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह दौड़ी-दौड़ी रानी सुजाता के समीप गई और हाँफती हुई बोली—"रानीजी!रानीजी! आप बड़ी भाग्यवती हैं, आपके भक्ति भाव से प्रसन्न होकर वन देवता तो मूर्तिमान् होकर मन्दिर के बाहर विराजमान हैं।"

यह सुनकर सुजाता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रेम में पगली हुई स्नेह भरित हृदय से सुवर्ण के कटोरे में उस पायस को लेकर पहुँची। भगवान् बुद्ध ध्यान में मग्न थे, सुजाता देवी एक पैर से जाकर खड़ी हो गई। कुछ काल में भगवान् बुद्ध ने नेत्र उठाकर देखा तो पूजा की सामग्री लिये एक देवी खड़ी हैं।

भगवान् ने पूछा—"तुम कौन हो? क्यों खड़ी हो?"

सुजाता ने कहा—"हे वनदेवता! आपकी ही कृपा से मेरे पुत्र हुआ है, मैं आपकी पूजा करना चाहती हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देवि! मैं कोई देवता नहीं। मैं तुम्हारे ही जैसा एक मनुष्य हूँ।"

अत्यन्त विनीत भाव से सुजाता ने कहा—"प्रभो! आप कोई हों मुझे पूजा कर लेने दें।"

श्रद्धा भक्ति की पराकाष्ठा होने से सभी विवश हो जाते है। भगवान् बुद्ध ने पूजा करने की आज्ञा दे दी? सुजाता ने विधिवत् भगवान् की पूजा की और पायस अर्पण की। भगवान् को अत्यन्त भूख लगी हुई थी। बहुत दिनों से उन्होंने आहार छोड़ रखा था। नदी तट पर बैठकर उन्होंने उस खीर को खाया। सुवर्ण पात्र वही फेंक दिया। खाकर वे पुन: आसन पर विराजमान हो गये। सुजाता के नेत्र उनके दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे, वह अपलक भाव से भगवान् के दर्शन कर रही थीं। उसने आश्चर्य के साथ देखा

भगवान् के श्रीअङ्ग से दिव्य ज्योति निकल रही है जो पृथ्वी से आकाश पर्यन्त एक दिव्य सुवर्णमय वृत्त के आकार में परिणित हो गई हैं। सुजाता उस दिव्य प्रकाशमय वृक्ष के दर्शन करके आनन्द में विभोर हो गई। उसे इतना अधिक आह्लाद, इतना आनन्द हुआ कि शरीर उसे सहन करने में समर्थ न हुआ। सुजाता के शरीर का वहीं पात हो गया

पक्षिणी देवी राजा से कह रही है—"राजन्! वह सुजाता और कोई नहीं थी, मेरा ही नाम सुजाता था। उस दिव्य तेज के दर्शनानन्द में तन त्याग करने का कारण मुझे तूषित नामक दिव्य लोक की प्राप्ति हुई। आनन्दमय दिव्यलोक में दिव्य शरीर से सहस्त्रों वर्षों तक उस आनन्द का अनुभव करती रही। वहाँ पर भी मेरा सूक्ष्म अभिमान शेष था। एक दिन मुझे वहीं भगवान् के दिव्य तेज का स्मरण आ गया। मैंने देखा भगवान् बुद्ध के शरीर से एक तेज पुञ्च निकलकर वृक्ष के आकार में परिणित हो गया और उस पर एक दिव्य पक्षी बैठा है। मेरा ध्यान उस पक्षी की ओर लग गया। चित्त की तनिक-सी वृत्ति पक्षी में लग जाने से ही मेरा उस दिव्यलोक से पतन हो गया। और मुझे पक्षी योनि प्राप्त हो गई। किन्तु पुण्य प्रभाव से सौभाग्यवश मैं पक्षी भी हुई तो ब्रज मण्डल में हुई। जिस माता ने मुझे जन्म दिया उसका घोंसला यमुनाजी के तट पर एक सघन वृक्ष के ऊपर था। वहीं मैं अपनी माता के साथ रहती। माता इधर-उधर से अन्न कण एकत्रित करके लाती और मुझे खिलाती।

जिस वृक्ष पर हमारा घोंसला था, उसी वृक्ष के नीचे बानरों का श्मशान घाट था। जो वानर मरता दूसरे बानर वहीं लाकर उसका अन्तिम संस्कार करते। उसी समय कोई वानर मरा। अन्य वानर उसे ले आये। परस्पर दो पाषाणों को टकराकर वे अग्नि

प्रकट करते थे, उसके लिये कुछ कोमल तृणों की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक वानर ने झपटकर हमारा घोंसला तोड़ लिया और उनसे अग्नि जलाई, सौभाग्य से उस समय मैं घोंसले में नहीं थी। मेरी माँ मुझे अन्य शाखा पर बिठाकर भोजन करा रही थी। जब हमारा घर उजड़ गया तो मेरी माँ ने उस श्मशान भूमि के वृक्ष पर रहना उचित न समझा। वह मुझे लेकर शनैः-शनैः उड़ी। उड़ती-उड़ती बीच-बीच में विश्राम करती हुई वह पञ्चनद प्रदेश में अटक नदी के तट पर पहुँची। वहाँ नदी तट पर दुर्गा देवी का एक भव्य मन्दिर था, समीप ही एक सघन निम्ब वृक्ष था। मेरी माँ ने उसी पर अपना नया घर बनाया। मैं सुखपूर्वक वहाँ रहने लगी।

एक दिन मेरी माँ अन्न एकत्रित करने गई किन्तु लौटकर नहीं आई। मैं अभी अबोध थी, जब नियत समय तक माँ नहीं आई तो मैं बड़ी चिन्तित हुई। पल-पल क्षण-क्षण मेरे लिये भारी हो गया। दिशाओं की ओर देखते-देखते मेरी आँखें पथरा गईं। मैं अत्यन्त कातर होकर रुदन करने लगी। तीन दिन इस प्रकार मुझे हो गये। मैं अत्यन्त विह्वल होकर माता के लिये विलाप करती रहती थी। मेरे पाषाण को पिघला देने वाले करुण क्रन्दन को श्रवण करके दुर्गा देवी अब आसन पर स्थिर न रह सकीं। वे दिव्य शरीर से प्रकट होकर मेरे निकट आईं। उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे मस्तक के ऊपर रखा। देवी के हस्त का स्पर्श होते ही मैं परम सुन्दरी सुकुमारी बन गई। तब देवी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझसे कहा—"बेटी! तू चिन्ता मत कर। तू पक्षी नहीं तू तो श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी है, तेरे मन में कुछ अहङ्कार का अंश था, उसे ही नष्ट करने तुझे तेरे संकल्पानुसार यह पक्षी योनि प्राप्त हुई। अब तू साधन द्वारा उस अहंकार को नष्ट कर।"

मैंने विनीत भाव से कहा—'माँ! मैं तो पक्षी योनि में उत्पन्न

हुई हूँ, मैं साधन भजन क्या जानूँ?''

देवी ने कहा—''देख, साधन मैं तुझे बताती हूँ मैं तुझे एक दिव्य नाम मन्त्र का उपदेश करती हूँ, इस नाम का उच्चारण तू अत्यन्त अनुराग के साथ, परम प्रेमयुक्त होकर, मधुर वाणी में, लय के साथ एकाग्र चित्त से करना। और मन्त्र तो मन-ही-मन जपे जाते हैं, किन्तु यह नाम मन्त्र वाणी में, बोलकर गाकर तू उच्चारण करना। इस नाम मन्त्र के गान से तेरे समस्त रहे-सहे अशुभ नष्ट हो जायेंगे। तुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी और फिर तू जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये निवृत्त हो जायगी। मन्त्र जाप में अनुराग, तन्मयता और हृदयोल्लास यही प्रधान हैं। आत्म विस्मृत होकर तू इस मन्त्र का गान करना। यह कहकर देवी ने मुझे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव।।

इस श्रुतिमधुर परम दिव्य मन्त्रका उपदेश दिया और कहा—''अब तू पुनः व्रज में जाकर निवास कर।''

मैंने हाथ जोड़कर देवी से कहा—''माँ! मैं तुम्हारे साथ रहूँगी, तुम्हें छोड़कर मैं कहीं नही जाऊँगी।''

देवी ने मुझे अत्यन्त प्रेम के साथ पुचकारते हुए कहा—

''देख, बेटी! तू मर्त्यलोक की है, मैं दिव्य लोक की देवी हूँ, मेरा तेरा साथ कैसे हो सकता है। तेरा श्रेय ब्रज में जाकर होगा। तू चाहे तो इस मानवी रूप को भी रख सकती है, किन्तु युवती सुन्दरी कन्या के रूप में अनेक विघ्न बाधायें हैं, कामी लोग सुन्दरी युवती को अकेली देखकर भाँति-भाँति के विघ्न डालते हैं, अतः मेरी सम्मति में तू वही पक्षी का रूप रख ले।'' इतना कह कर दुर्गादेवी अन्तर्हित हो गईं। मैंने पुनः पक्षिणी का रूप रख लिया। भगवती के पादपद्मों में साश्रु प्रणाम करके नयनों के नीर से उनके

पादों का प्राक्षालन करके मैं ब्रज मण्डल की ओर उड़कर चल दी।

जो वृन्दावनधाम भुवि का भूषण है जो मायिक प्रपञ्चों से सर्वथा रहित है, जहाँ रसिक विहारी रासेश्वर श्रीकृष्ण अपनी नित्य सहचरियों के सहित नित्य रास विलास करते रहते हैं उस परम शोभामय धाम के दर्शनों से ही मेरा हृदय खिल उठा। कालिन्दी के कलित कूल के निकट स्थित वंशीवट की एक शाखा पर मैंने अपना घर बनाया। दिन में तो मैं शनैः-शनैः "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का जप करती रहती। जब अरुणोदय होता तो मैं सस्वर अत्यन्त ताल लय के साथ सुन्दर स्वर में इस नाम मन्त्र का गान करती। मेरा स्वर इतना सुरीला था कि जो भी मेरे मन्त्र गान को सुनता वही मन्त्रमुग्ध होकर स्तम्भित हो जाता। यमुना स्नान करने जितने भी नर-नारी आते, मेरे सुमधुर अलौकिक गान को सुनकर सब क़ार्यों को भूलकर वहीं चित्रलिखे से खड़े-के-खड़े हो जाते। नित्य ही मेला सा लग जाता। कोई कहता—"यह दिव्य गान है, कोई स्वर्गीय बताता और कहता—"पता नहीं कौन गा रहा है। मैं छोटी सी थी, वंशीवट के हरे-हरे सघन वृक्षों के बीच घोंसले में ऐसी छिपी रहती की किसी को दिखाई ही न देती, फिर इस बात का कोई अनुमान भी तो नहीं कर सकता था कि कोई पक्षी मानवी भाषा में ऐसा दिव्य गान कर सकता है।

एक दिन मन्त्र गान करते-करते मैं तन्मय हो गई, शरीर की भी मुझे सुधि न रही। उसी अचेतनावस्था में गान करते-करते मैं वंशीवट से भूमि पर मूर्च्छित होकर गिर गई। ये संन्यासी महाराज भी वही वंशीवट के निकट कुटी बनाकर रहते थे, ये भी मेरे गायन से मुग्ध थे। जब मैं गाते-गाते गिरी तो इन्हें निश्चय हो गया, यह पक्षिणी ही गान करती है, तुरन्त इन्होंने मुझे पकड़कर एक पींजड़े

में बन्द कर दिया।

जब मेरी मूर्च्छा भंग हुई, तब अपने को बन्धन में देखकर दीनवाणी में मैंने स्वामीजी से विनय की—"स्वामिन्! आप बीतरागी, गृह-त्यागी विरागी संन्यासी हैं। आप तो सबको बन्धन से मुक्त करने वाले हैं, फिर आप मुझे बन्धन में क्यों डालना चाहते हैं?"

इन संन्यासीजी ने कहा—"देख, यद्यपि मैं संन्यासी हूँ, फिर भी मेरा मनुष्य शरीर तो है ही। मनुष्य योनि सब योनियों से बड़ी है। उसे अधिकार है, जिनसे अपना काम चले, उन्हें बन्धन में रखे, ऐसा न हो तो मनुष्य का काम कैसे चले। गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, गधा, ऊँट, भेड़, बकरी तथा अन्य पशु-पक्षियों को बाँधकर—मनुष्य रखता है। मुझे तेरा गायन अत्यन्त प्रिय है, तू भगवन्नाम का गायन करती है इससे मुझे भगवत् स्मृति होती है। तुझे मैं बाँधकर रखूँगा।"

मैंने कहा—"स्वामीजी! यदि किसी पुष्प के सौन्दर्य को देखकर चित्त प्रसन्न होता हो तो उसे तोड़कर अपनाकर अपने पास रखना मोह है, लोभ है, संग्रह है। आप अपने स्वार्थ के लिये मुझे बन्धन में रखना चाहते हैं, यह अन्याय है।"

स्वामीजी ने कहा—"अपने स्वार्थ के लिये तो सब कुछ करना होता है। ऐसा न करें तो शरीर यात्रा ही न चले। तुम्हें मैं कष्ट न दूँगा। गायन सुनूँगा इसमें मैं तो कोई अन्याय की बात देखता नहीं।"

मैंने कहा—"अच्छा, आप किसी राजा के पास चलें वह जो निर्णय करें उसी के अनुसार कार्य हो।" स्वामीजी ने यह बात स्वीकार कर ली।

स्वामीजी मुझे लेकर एक राजा की सभा में गये, यद्यपि राजा

मेरे पक्ष में थे, किन्तु उनके मन्त्रीगण मेरे विपक्ष में थे, अतः बहुमत स्वामीजी के पक्ष में होने से कोई निश्चित निर्णय न हुआ। तब मैंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि जगन्नाथपुरी के महाराज बड़े धर्मात्मा है, प्रजावत्सल सत्यवादी, न्यायप्रिय और युक्तायुक्त के निर्णय करने में परम पटु हैं। उनके पास जायँ। वे जो भी निर्णय करें वह दोनों को मान्य हो।'' स्वामी जी ने मेरी यह भी प्रार्थना स्वीकार की, इसीलिये मुझे लेकर ये आपके समीप आये हैं, अब आप जो भी निर्णय करेंगे, वह हम दोनों को मान्य होगा।'' इतना कहकर वह पक्षिणी चुप हो गई।

पक्षिणी की कथा सुनकर सभी आश्चर्य चकित हो गये। कुछ देर सोचने के पश्चात् कटकाधिप महाराज हाथ जोड़कर स्वामीजी से बोले—''भगवन्! आपकी नाम निष्ठा और कीर्तन श्रवण का अनुराग सराहनीय है। आप यहाँ राजगुरु के पद को सुशोभित करें, मुझे अपना शिष्य बनाकर सत्शिक्षा देते रहें। किसी को बन्धन में रखना न्याय नहीं है, अतः आप इस पक्षिणी को छोड़ दें।''

राजा की यह बात स्वामीजी ने स्वीकार करके उसे पिंजड़े से पक्षिणी को मुक्त कर दिया।

पिंजड़े के बाहर जब वह कृतज्ञता भरी दृष्टि से राजा की ओर निहारने लगी, तब राजा ने उससे कहा—''हे, देवि! तुम अब उड़कर श्रीवृन्दावन के निकट, यमुना तट वंशीवट वृक्ष पर ही जाकर रहो। अब तुम अपना गायन कीर्तन अर्धरात्रि की बेला में किया करना जिससे कोई श्रवण न करें।'' यह सुनकर पक्षिणी ने स्वामीजी को और राजा को प्रणाम किया और वह उड़कर वृन्दावन में वंशीवट पर रहने लगी। अब वह अर्ध रात्रि के समय 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव' इस दिव्य नाम मन्त्र का गायन किया करती थी। गायन करते-करते शरद् पूर्णिमा की

परम सुषमा दिव्यचन्द्रयुक्ता विभावरी आई।

भगवान् का रास तो नित्य है। नित्य ही वे अपनी सखी सहचरियों के साथ वृन्दावन की पुण्य भूमि में रास किया करते हैं, किसी भाग्यशाली को दर्शन भी हो जाते हैं। उस दिन उस पक्षिणी को एक नया राम मयी दिव्य वाणी सुनाई दी। उस वाणी के श्रवण मात्र से ही उसका समस्त अहङ्कार नष्ट हो गया। तुरन्त उसने इस पाँच भौतिक शरीर का परित्याग करके दिव्य ब्रजाङ्गना का रूप रख लिया। रासेश्वरी श्री राधारानी ने उसे अपने परिकर में मिला लिया। वह नित्य लीला की अधिकारिणी सहचरी बन गयी।''

इस आख्यान से यही शिक्षा मिलती है, जब तक किसी प्रकार की भी वासना शेष है, तब तक उसे प्रभु प्रेम की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जब तक विषय वार्त्ता श्रवण में सुख प्रतीत होता है, तब तक समझना चाहिये उसे भगवत् गुण श्रवण रस ने स्पर्श तक नहीं किया। भगवत् गुण श्रवण रस का जिसने यत् किंचित भी अनुभव कर लिया हो, उसे विषय वार्तायें विष से भी अधिक दुखद प्रतीत होंगीं। जिसने हृदय से एक बार भी ब्रह्म संस्पर्श कर लिया हो, उसे इन हाड़ माँस के बने मल-मूत्र से भरे शरीरों के स्पर्श में भला क्या सुख हो सकता है, जिसकी घ्राण ने भगवान् के चरणतल में पड़ी दिव्य तुलसी की सुगन्धि का अनुभव किया हो, उसे इन भौतिक पदार्थों में क्या सुख होगा। जिसने कभी स्वप्न में एक बार उस दिव्य छटा की बाँकी झाँकी कर ली हो, उस हाड़ माँस के बने काले गोरे मुख मलपिंड अपनी ओर क्या आकर्षित कर सकेंगे। वह तो सबमें उसी अपने हृदयधन की छटा का अवलोकन करेगा। जिसकी रसना को क्षण भर को भी नामामृतरस का स्वाद मिल गया हो, वह अन्य के गुण दोषों का वर्णन कैसे करेगा? मैं इनसे बहुत दूर हूँ, नरक के द्वारा भूत काम, क्रोध तथा

लोभ ने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा। अहङ्कार वश जो मैं अपने को त्यागी विरागी माने बैठा था, वह मेरा मिथ्याभिमान था, दम्भ था, मैं चाहता हूँ, निरन्तर भगवत् चिन्तन, भगवत गुण श्रवण हो, सो हो नहीं पाता। सांसारिक वस्तुओं में से आकर्षण कम नहीं होता। मैं अपनी इस उभयभ्रष्ट स्थिति पर लज्जित हूँ, दुखित हूँ। 'भागवती कथा' के पाठक गण ऐसा आशीर्वाद दें—यदि आशीर्वाद भारी शब्द प्रतीत होता है तो ऐसी मनोकामना करें—प्रभु से प्रार्थना करें—कि मेरा चित्त सांसारिक पदार्थों की ओर न देखकर प्रभु पादपद्मों की ही ओर लगा रहे। मेरी जिह्वा निरन्तर नामामृत का ही पान करती रहे, मेरे हृदय में निरन्तर वही त्रिभङ्ग ललित माधुरी मूरति नृत्य करती रहे। मेरे कर्ण कुहरों में यही एक ध्वनि सदा भरी रहे।

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव।

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)
कार्तिक शु० पूर्णिमा २००५ वि०

सबका स्नेह भाजन
प्रभुदत्त

छद्मवेषी इन्द्र द्वारा दिति का गर्भोच्छेद

(४४३)

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः।।
नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान्।
पत्रांकुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत।। ✯

(श्री० भा० ६ स्क० १८ अ० ५६, ५७ श्लो०)

छप्पय

यों कहि विधिके सहित बतायो मुनिवर ने ब्रत।
धार्‌यो दिति ने तुरत लगायो निज हितमहँ चित।।
मौसीको संकल्प जानि सुरपति घबराये।
परे सोचमें अधिक तुरत तिहि आश्रम आये।।
छिद्रान्वेषनके निमित्त, वेष बदलि बालक बने।
करें टहल नित कपटतैं, सदा रहें चित अनमने।।

मनुष्य सुखों को जीवन की आशा से धैर्यपूर्वक सहन कर सकता है। यदि उसे जीवन का ही भय हो जाय, तब उसका धैर्य छूट जाता है। और वह प्राणपन से मृत्यु को हटाने की चेष्टा करता है। सभी प्राणी मृत्यु से बचने के लिये ही निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। किसी प्रकार मृत्यु न आवे हम जीवित बने रहें यही प्राणिमात्र

✯ *श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! जब बुद्धिमान् इन्द्र ने अपनी मौसी दिति के मन के अभिप्राय को समझ लिया तो वे आश्रम में रहने वाली दिति की सेवा सुश्रूषा करने लगे। उसके लिये वे नित्य ही वन से दोनों समय फल, फूल, मूल दूब, समिधा, कुशा, हाथ पैर धोने की मृत्तिका तथा फल आदि आवश्यक वस्तुयें ला-लाकर देते रहे।"*

की भावना रही है। जिनके हृदय में से मृत्यु का भय भाग गया, जिन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु को अपना लिया वे संसार बन्धन से मुक्त होकर मुक्तिपति के ही बन गये। तदीय हो गये। जब तक जीवित रहने की आशा है, तब तक सभी उपायों से मृत्यु को हटाने का प्रयत्न चलता रहता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! कितना भी छिपकर पाप पुण्य करें, वह कभी-न-कभी प्रकट हो हो जाता है। क्योंकि आदित्य, चन्द्र, सूर्य, पंचभूत, दिशायें, धर्म ये तो सब के मन की बातों को जान ही लेते हैं। इन्द्र को भी यह बात मय दानव से मालूम पड़ गई कि मेरी मौसी दिति देवी मुझे मारने के लिये पुंसवन व्रत कर रही है। उसके गर्भ में मेरे तेजस्वी पिता का अमोघ वीर्य भी स्थापित हो चुका है। मेरे पिता सत्य संकल्प हैं, वे कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोलते। यदि मेरी मौसी का एक वर्ष का व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब तो उसके गर्भ से मुझे मारने वाला पुत्र पैदा हो ही जायगा। यदि किसी प्रकार इसके व्रत में विघ्न पड़ जाय तो यह गर्भ व्यर्थ हो जायगा। अब जैसे हो तैसे इसके व्रत में विघ्न करना चाहिये। विघ्न भी मैं क्या कर सकता हूँ। जब तक यह नियम पूर्वक रहेगी, सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करेगी, तब तक मैं क्या कोई भी इसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। अब मुझे क्या करना चाहिये?"

इस बात को सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दिति के गर्भ की बात मय को कैसे मालूम पड़ गयी और यदि मालूम भी हो गई हो तो घर की बात उसने देवताओं के राजा इन्द्र को क्यों बता दी।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! मयासुर सभी का पण्डित है। वह अपनी माया से सब कुछ जान लेता है। वह भी तो असुर ही था। दिति के घर की बातें सब जानता था। मित्रता के वशीभूत होकर उसने इन्द्र से सब सत्य-सत्य बात कह दी।"

यह सुनकर और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप एक-से-एक अद्‌भुत बात बता रहे हैं। देवताओं और असुरों का तो वैसे ही स्वाभाविक वैर है। फिर हमने सुना है कि मयासुर के भाई नमुचि को इन्द्र ने ही अपने वज्र से मार दिया था फिर भ्रातृहन्ता इन्द्र से मयासुर की मित्रता कैसे हो गई?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! इस विषय में एक पौराणिकी कथा है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। बात यह थी कि पहिले नमुचि सब दैत्यों का राजा था। इधर इन्द्र देवताओं के राजा थे। दोनों में बड़ा भारी घमासान युद्ध हुआ। इन्द्र को तो पराजित होने का शाप ही है, वे पराजित होकर युद्ध से भाग खड़े हुए। इन्द्र को युद्ध से जाते देखकर नमुचि ने भी उनका पीछा किया। इन्द्र अपने पीछे नमुचि को आते हुए देख कर बहुत डर गये। वे ऐरावत को छोड़कर समुद्र के फेन में घुस गये। नमुचि को शाप था कि वह न गीली वस्तु से मरेगा, न सूखी से। तब इन्द्र ने वज्र को समुद्र के फेन में लपेट कर नमुचि पर प्रहार किया, नमुचि मर गया। इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।" मयासुर नमुचि का छोटा भाई था। अपने बड़े भाई की इन्द्र द्वारा मृत्यु सुनकर मय को बड़ा भारी क्रोध आया। उसने अपने भाई के वध करने वाले को मारने के संकल्प से घोर तप किया। तपस्या के प्रभाव से उसने ऐसी मायाओं को प्राप्त कर लिया कि जिन्हें देवता किसी प्रकार भी न जान सकें। व्यर्थ करना तो दूर की बात है। उसने अपनी कठोर तपश्चर्या से चराचर के स्वामी श्रीहरि को भी प्रसन्न कर लिया और उसने श्रेष्ठ वर को भी प्राप्त किया। मयासुर बड़े यज्ञ करता, ब्राह्मणों का पूजन करता, याचकों को मुँह माँगा दान देता। उसके दान की सर्वत्र ख्याति हो गई। ब्राह्मण उसे हृदय से आशीर्वाद देने लगे। अब तो इन्द्र बहुत घबड़ाये। उन्हें न भोजन अच्छा लगता था न स्वर्गीय सुख। रात्रि दिन उन्हें यही चिन्ता लगी रहती थी कि मैं मय से किस प्रकार बच

सकूँ। जो इतना धर्म करता है, अपनी सेवा से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है, उसे मैं युद्ध में किसी प्रकार पराजित नहीं कर सकता। फिर उसे भगवान् विष्णु से वर प्राप्त कर लिया है। अनेक मायाओं को जान लिया है। उससे तो मैत्री करने में ही कल्याण है। यही सब सोच विचार कर इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर मय के समीप गये। और याचकों की-सी दीन वाणी में बोले—"राजन्! आज कल संसार में आपके दान की सर्वत्र ख्याति है। मैंने सुना है, आपके द्वार से कोई याचक विमुख नहीं जाता। इसी आशा से मैं आपके यहाँ आया हूँ, आप मेरी भी इच्छा पूरी कीजिये। मुझे मनोवांछित वस्तु दीजिये।"

ऐसे योग्य ब्राह्मण को देखकर मयासुर के रोम-रोम खिल उठे। उसने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"विप्र वर! मैं कृतार्थ हुआ। आप अपनी इच्छा को पूरी हुई ही समझें आपको जो भी माँगना हो निःसंकोच माँग लें।"

विप्र वेषधारी इन्द्र ने कहा—"यदि आप मुझे मेरी मनोभिलाषित वस्तु देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे मैत्री चाहता हूँ। आप मुझे अपना मित्र बना लें।"

साश्चर्य के साथ मय ने कहा—"ब्राह्मण! आप ये कैसी बातें कर रहे हैं। मैं तो ब्राह्मणों का दास हूँ। मेरी आपसे कभी शत्रुता हुई हो तो मित्रता करूँ भी। मेरा तो आज ही आप से परिचय हो रहा है। मित्रता क्यां मैं तो आपका आज्ञाकारी सेवक ही हूँ। आप और कोई वर माँगिये।"

मयासुर की ऐसी स्नेहभरी उदारता पूर्ण वाणी सुनकर इन्द्र अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो गया। मय अब क्या करता, सज्जनों के वचन तो एक बार ही निकलते हैं और उन्हें जीवन भर निभाते हैं। उन्होंने दुःख प्रकट नहीं किया। बड़ी प्रसन्नता से आश्चर्य प्रकट करते हुए इन्द्र से कहने लगे—"अरे, आप तो वज्रपाणि देवेन्द्र निकले। देखिये इस प्रकार दीन होकर भीख माँगना आपके अनुरूप

नहीं है।''

इन्द्र ने प्रेम और लज्जा से सिर नीचा करके कहा—''बन्धु वर! जब प्राणों का संकट उपस्थित हो जाय तो बुद्धिमान् पुरुष को जिस किसी उपाय से ही अपनी रक्षा करनी चाहिये। मैं जानता था आपसे युद्ध करके मैं किसी प्रकार नहीं जीत सकता, इसीलिये इस उपाय का अवलम्बन लिया, अस्तु, अब तो हम दोनों मित्र हो ही गयो।''

मयासुर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—''हाँ अब तो हमारी आपकी प्रगाढ़ मैत्री हो गई। यह कहकर मय ने इन्द्र को हृदय से लगा लिया और दोनों प्रेम के साथ रहने लगे। मय ने इन्द्र को समस्त माया भी सिखाई और हृदय से उनके साथ मैत्री निभाने लगा।''

जब उसने सुना कि दिति माता ने इन्द्र के नाश के निमित्त भगवान् कश्यप से गर्भ धारण किया है और उसका व्रत पूरा हो गया तो उससे इन्द्र को मारने वाला पुत्र होगा तो मैत्री भाव से उसने इन्द्र से आकर सब बातें सच-सच कह दीं।

इस बात को सुनकर इन्द्र बड़े घबड़ाये और उन्होंने अपने मित्र मयासुर से पूछा—''भैया, अब तुम्हीं बताओं मैं क्या करूँ? इस विपत्ति से मेरा कैसे छुटकारा हो? कैसे मैं दिति के भावी गर्भ के भय से बच सकूँ? तब मय ने इन्द्र को सब बातें बताईं कि दित इस समय अगस्तजी के आश्रम पर रहती है। वहीं जाकर तुम रहो और उसके व्रत में विघ्न करो।''

मय की बात सुनकर देवराज इन्द्र ने कहा—''बन्धुवर! इस समय मेरी बुद्धि तो कुछ काम नहीं दे रही है यदि ऐसा वैसा कोई राजस तामस देवता का व्रत होता तो मैं किसी प्रकार विघ्न भी कर सकता था। यह है वैष्णव व्रत। इसमें मैं स्वयं तो कुछ विघ्न करने में समर्थ नहीं। हाँ, दैव वशात् इससे ही कोई त्रुटि हो जाय तो अवश्य विघ्न हो सकता है। क्योंकि मेरे पिता ने इससे यही कहा

हैं। अब मुझे जैसे हो तैसे सदा एक वर्ष पर्यन्त इसी के समीप रह कर इससे व्रत के छिद्रों को देखते रहना चाहिये।

ये सब बातें मय से कहकर उसकी सम्मति से देवराज इन्द्र ने एक सात-आठ वर्ष से बालक का रूप रख लिया और जाकर दिति के पास रोने लगे। माताओं का स्वभाव तो दयायुक्त होता ही है। विशेषकर दुखी बालक को देखकर मातृ हृदय पिघलने लगता है। फिर वह बालक किसी का भी क्यों न हो। दिति ने बड़े प्यार से पूछा-"बेटा! तू कौन है? क्यों रोता है? क्या चाहता है! तुझे जो कष्ट हो वह मुझे बता।

बालक वेषधारी देवेन्द्र आँसू पोंछते हुए बोले—"माँ! मैं अनाथ हूँ मेरा कोई भी नहीं। मुझे अपने जीवन की भी आशा नहीं। यदि आप मुझे आश्रय दे दें तो मेरे प्राण बच सकते हैं। मैं आपकी शक्तिभर सेवा किया करूँगा। मुझे केवल खाने को अन्न मात्र चाहिये।"

दिति उस बच्चे के भोलेपन पर रीझ गई। उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"बेटा! तू बड़े आनन्द से रह। तेरी इच्छा हो सो काम कर लिया कर। जो न इच्छा हो मत किया कर। तुझे किसी बात का कष्ट न होगा।

दिति एकान्त में आश्रम में रहकर बड़ी सावधानी से व्रत का पालन कर रही थी। इस छद्म बालक ने बड़ी लगन से उसकी सेवा करनी आरम्भ कर दी। वे नित्य प्रति भोर में उठते। दूर जंगल से जाकर अच्छे-अच्छे पके फल तोड़ लाते। सुन्दर सुगन्धित सुमन ले आते। जलाने के लिये तथा हवन के लिये समिधायें तोड़ लाते। हरी-हरी सुन्दर कुशाओं को उखाड़ लाते। तुलसी पत्र विल्व तथा प्रसाद आदि रखने को बड़े-बड़े केले के पत्तों को ले आते, पूजन के लिये हरी-हरी दूब तोड़ लाते। हाथ पैर धोने को शुद्धस्थान से कोमल पीली मिट्टी ले आते। लाकर उन्हें रख देते तब तक माँ नित्य कर्म से निपट लेती। इन्द्र जल ले आते। उन्हें स्नान कराते

स्वयं भी स्नान करते। पूजा की सामग्री सजा देते, अग्नि प्रज्वलित कर देते। दूध आदि होता उस अग्नि पर गरम करने को रख देते। माताजी के बर्तनों को पूजा के पार्षदों को शुद्ध कर देते। पूजा करके माताजी जब प्रसाद पा लेतीं तो उनके उच्छिष्ट बर्तनों को मलते, झाड़ू, बुहारी, लगाते, चौका बर्तन करते, फिर जङ्गल में चले जाते और वे ही सब वस्तुएँ लेकर पुन: सेवा में उपस्थित हो जाते। वे बड़ी सावधानी से माँ की सेवा में ही बैठे रहते। तनिक संकेत पाते ही दौड़ पड़ते। वह सो जाती तो भी उनकी सेवायें तथा पंखा आदि करते रहते।

इस छोटे बच्चे की इतनी लगन की सेवा से दिति इन पर अत्यधिक प्रसन्न हो गईं। इन्हें प्राणी से भी अधिक प्यार करने लगीं। बार-बार मना भी करतीं—बेटा! इतना परिश्रम मत किया कर, थोड़ा विश्राम भी कर लिया कर।'' किन्तु इन्द्र को तो खुटका लगा हुआ था, उन्हें भोजन विश्राम का कहाँ अवकाश था।

इन्द्र ऊपर से तो सेवा करते थे, किन्तु भीतर ही भीतर उन्हें भय बना रहता था। वे सोचते थे—''कहीं इसका व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया तो मेरी कुशल नहीं है। वे सर्वदा दिति के व्रत में छिद्र देखते रहते थे। तनिक-सा भी कोई छिद्र मिले तो मैं इसके गर्भ में हानि पहुँचाऊँ। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, त्यों-त्यों इन्द्र की चिन्ता बढ़ती जाती थी। वे अपने को उसी प्रकार छिपाये हुए थे जैसे व्याघ मृग का चर्म ओढ़कर मृग को फँसाने के लिये अपने को छिपाये रहते है। वे अपने को इसी प्रकार प्रकट नहीं होने देते थे, जैसे विधवा अपने गर्भ को प्रकट नहीं होने देती। जैसे कंजूस अपने धन को छिपाये रहता है। जैसे राजा अपनी गुप्त मन्त्रणा को छिपाता है, जैसे चोर चोरी के धन को छिपाता है, जैसे चटोरी स्त्री मिठाई को छिपाकर रखती है। जैसे कुलीन कामिनी अपने अंगों को छिपाये रखती है, जैसे शीलवान् पुरुष अपने दान-पुण्य और सत्कर्मों को छिपाकर रखते हैं। इन्द्र यह प्रकट होने देना नहीं चाहते थे कि मैं

इन्द्र हूँ और किसी स्वार्थवश सेवा कर रहा हूँ। वे अपने व्यवहार से अपने को निस्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। ये व्रत में स्थित दिति के व्रत को भंग करने के निमित्त अवसर को देखते हुए बड़ी तत्परता से उसकी टहल करने लगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार सेवा करते-करते इन्द्र को लगभग एक वर्ष हो गया। वर्ष में दो चार दिन ही शेष रहे थे। वे निरन्तर उसके छिद्रान्वेषण में ही लगे रहते थे। एक दिन की बात है, व्रत करते-करते वह अत्यन्त क्षीण हो गई थी। विधि के विधान से वह विमोहित-सी बन गई थी। शरीर में बड़ी सुस्ती-सी आने लगी। सायंकाल का समय था, उसने कुछ खा लिया था। खाकर न मुख धोया न आचमन किया। वैसे ही बिना पैर धोये वह शैया पर केश खोले उलटी पड़ गई। पड़ते ही नींद आ गई और सो गई।"

इस अवस्था में उसे सोते देखकर इन्द्र को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। एक तो सन्ध्या के समय सोना ही पाप है। फिर उच्छिष्ट मुख से बिना पैर धोये केश खोले उलटी शैया पर सो रही थी। यह उसके व्रत में बड़ा भारी छिद्र था। बस, अब क्या था। इन्द्र योगी तो थे ही अपने योग बल से अत्यन्त लघु रूप बनाकर वज्र लेकर उसके पेट में घुस गये। गर्भ पूरा हो चुका था। दिति श्रम के कारण अचेत हुई सो रही थी। उसे कुछ पता ही नहीं था कि मेरे पेट में क्या हो रहा है। इन्द्र ने अपने वज्र से उस सुवर्ण की सी कान्ति वाले तेज से जाज्वल्यमान् गर्भ के सात टुकड़े कर डाले। टुकड़े होने से वे सबके सब रोने लगे। इन्द्र को भय लग रहा था। ये बच्चे रो पड़े तो दिति जग जायगी और मुझे शाप देकर भस्म कर डालेगी। इसलिये वे बार-बार कह रहे थे मारुद्-मारुद् अर्थात् 'रोओ मत, रोओ मत। जब सात टुकड़े करने पर भी वे न मरे और एक के सात बच्चे बन गये तब इन्द्र ने फिर अपने वज्र से एक -एक के सात-सात टुकड़े कर डाले। इस पर वे ४९ हो गये। भगवान्

की ऐसी कृपा कि वे पूरे ४९ जीवित बच्चे बन गये। उन सबने हाथ जोड़कर इन्द्र से कहा—"हे देवेन्द्र! तुम हमें क्यों मारना चाहते हो? भाई को भी भला भाई मारता है।" यह सुनकर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"तुम मुझे मारोगे तो नहीं? जब भाई को भाई हीं मारता तो मैं भी तुम्हें न मारूँगा। आज से तुम ४९ मरुद्गण मेरे प्रधान पार्षद हुए।"

इस परराजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! एक गर्भ के ४९ टुकड़े होने पर भी वे मरे क्यों नहीं? सबके सब जीवित कैसे बच गये?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"अब राजन्! इस विषय में क्या कहें? यही कहना पड़ता है कि यह भगवान् की माया है। उनकी ऐसी ही इच्छा थी। भगवान् की माया के सम्मुख कुछ असम्भव नहीं। वे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुशक्यः" कहे जाते हैं। असम्भव का सम्भव और सम्भव को असम्भव कर सकते हैं। मरुद्गण तो नित्य हैं। उनको शरीर धारण करना था। वे दिति के गर्भ में प्रवेश किये। गर्भ एक था मरुद्गण संख्या में उन्नचास होते हैं अतः इन्द्र को उन्नचास भाग करने का निमित्त भगवान् ने बना दिया। वैसे नित्य मरुद्गणों को कौन मार सकता है। फिर जिन भगवान् का सच्चे हृदय से प्रेमपूर्वक मरते समय नाम लेने से मनुष्य अमर हो जाता है, उन्हीं भगवान् की दिति ने तो कुछ दिन कम एक वर्ष तक आराधना की थी। इसीलिये एक के उन्नचास टुकड़े करने पर भी वे मरे नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब गर्भ में ही दोनों में सुलह हो गई तो उन्नचास मरुद् और पचासवें इन्द्र इस प्रकार ये सबके सब मरुद्गण कहलाये। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये दैत्य न कहाये। इन्द्र के सम्बन्ध से इनकी देवताओं में ही गणना हो गई। जहाँ यज्ञों में इन्द्र को तथा अन्य देवताओं को हविर्भाव सामभाग मिलता है, वहाँ इन्द्र के साथ इनको भी भाग मिलता है।

ये यज्ञ भागभुक कहे जाते हैं। इस प्रकार दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये देवता ही माने गये। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा था उसका मैंने उत्तर दे दिया अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं?''

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—''प्रभो! मरुद्गणों की कथा सुनकर मुझे सुख हुआ। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जब दिति को यह सब समाचार विदित हुआ तब उसने क्या किया? उसने क्रुद्ध होकर इन्द्र को शाप तो नहीं दिया?''

इस पर श्रीशुक बोले—''अच्छा राजन्! मैं आगे की भी कथा कहूँगा उसे आप सावधानी के साथ श्रवण करें।'

छप्पय

लावें नित प्रति फूल मूल जल फल अरु अंकुर।
छिद्रान्वेषी बने रहें सेवामहँ तत्पर।।
बिनु पग धोये साँझ समय कोई इक दिन दिति।
व्रतको छिद्र निहारि उदरमहँ प्रविशे सुरपति।।
करे वज्रतैं गर्भके, सात खण्ड पुनि रुदन सुनि।
मा-रुद् कहि मारुत् भये, एक एकके सात पुनि।।

मरुद्गण चरित की समाप्ति

(४४४)

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ।। ☆

(श्री० भा० ६ स्क० १८ अ० ७७, श्लो०)

छप्पय

उनंचास सुत भये इन्द्र प्रकटे सुर पालक।
दिति पूछे व्रत कर्‌यो एक हित च्यौं बहु बालक।।
इन्द्र आदितें अन्त सत्य सब वृत्त बतायो।
छद्मवेष च्यौं धर्‌यो बिना छल कहि समुझायो।।
सुनि दिति अति सन्तुष्ट है, बोली काट्‌यो गर्भकूँ।
होहि बन्धु तब मरुद्गन, सब जागो मिलि स्वर्गकूँ।।

सत्य एक ऐसी वस्तु है कि शत्रु के हृदय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। हम दुःख को मिटाने के लिये असत्य भाषण करते हैं। किन्तु उससे दुःख कुछ काल को घटा हुआ-सा भले ही प्रतीत हो। किन्तु उसका परिणाम दुखद ही होता है। किन्तु सत्य भाषण से आरम्भ में दुःख और विपत्ति भी आती हुई दिखाई दे तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि विजय सदा सत्य की होती है। असत्य की विजय नहीं होती। हमसे कोई बड़ों का अपराध बन गया है और हम बड़ी नम्रता से पश्चात्ताप के सहित सब सच-सच बता देते हैं तो उन पर सत्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक कहानी है कि तीर्थ यात्रा में कुछ लोगों के साथ एक बालक भी जा रहा था।

☆ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब इन्द्र ने सब सच बातें बता दीं तो उसके शुद्ध भाव से दिति परम सन्तुष्ट हुईं। तदनन्तर देवराज इन्द्र उन्हें प्रणाम करके तथा उनकी आज्ञा लेकर मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये।"

रास्ते में डाकू मिले, उन्होंने सबको लूट लिया। सबको लूट कर जब वे चलने लगे तो उस भोले बच्चे से जाकर डाकुओं के सरदार ने पूछा—

"क्यों बच्चे! तेरे पास तो कुछ नहीं है?" उसने कहा—"जी, मेरे पास ५० मुहरें हैं।" डाकू सरदार ने उसने सम्पूर्ण शरीर को खोजा। कहीं भी उसे मुहर नहीं मिलीं। तब तो उसने क्रोध में भरकर कहा—"क्यों रे बच्चे! तू मुझसे हँसी करता है? तेरे पास तो कुछ भी नहीं?"

बच्चे ने कहा—"जी, आप मेरी रजाई को फाड़कर देखें। उसकी रुई के बीच-बीच में छिपी मुहरें सिली हुई हैं।" सरदार ने रजाई को फाड़ा उसमें सचमुच ५० ही मुहर सिली हुई थीं। इस पर सरदार ने पूछा—"बच्चे! तैंने इतना छिपा धन क्यों बता दिया। यदि तू न बताता तो तेरा यह धन तो बच ही जाता, क्योंकि बिना बताये कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था कि इस मैली-कुचैली रजाई में ५० मुहरें होंगी।" इस पर उस बालक ने कहा "सरदारजी, मेरी माँ ने चलते समय कहा था, "झूठ मत बोलना, इसीलिये मैंने सब बात सच-सच कह दीं।" बच्चे के सत्य का डाकुओं के सरदार के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसने सबसे लूटे हुए धन को लौटा दिया। एक के सत्य के पीछे सब का धन बच गया। अत: सत्य भाषण से सदा मङ्गल ही होता है। अमङ्गल नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति के गर्भ में घुसकर इन्द्र ने उसके गर्भ के ४९ टुकड़े कर दिये और वे ७ के पृथक्-पृथक् ७-७ गण हो गये तो उनके साथ इन्द्र गर्भ के बाहर आये। उसी समय दिति की आँखें खुल गयीं। उसने देखा इन्द्र के साथ ४९ बालक प्रेम के साथ भाई-भाई की भाँति खेल रहे हैं। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस लड़के के साथ ये भाई की भाँति व्यवहार क्यों कर रहे हैं और मैंने तो एक पुत्र के लिये पुंसवन व्रत किया था। ये ४९ बालक कैसे हो गये। यही सब सोचकर वह उस बालक वेषधारी इन्द्र से बोली—"बेटा! मैंने तो अपनी सौत

अदिति के पुत्रों को भय पहुँचाने के निमित्त एक ही पुत्र के लिये यह व्रत अनुष्ठान किया था। मेरा संकल्प परम पराक्रम इन्द्रहन्ता एक ही पुत्र के लिये था, फिर ४९ पुत्र क्यों हुए? और ये सब तेरे साथ भाई का-सा बर्ताव क्यों करते हैं? यदि तू इसका कुछ रहस्य जानता है तो मुझे सत्य-सत्य बता दे। छल-कपट मुझसे मत करना।''

अपनी मौसी दिति की ऐसी बात सुनकर इन्द्र ने बनावटी रूप त्याग दिया। वे वज्र हाथ में लिये साक्षात् देवेन्द्र के रूप में प्रकट हो गये और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनय के साथ बोले—''माता, मैं तुम्हारे संकल्प को सुनकर ही सदा तुम्हारी सेवा में रहने लगा था!''

दिति ने पूछा—''तुमने तो मेरी निस्वार्थ भाव से बड़ी लगन के साथ सेवा की थी।''

देवेन्द्र ने कहा—''माँ! मैंने निस्वार्थ भाव से सेवा नहीं की थी। मैंने स्वार्थ भाव को छिपा रखा था। ऊपर से निःस्वार्थता प्रकट करता था। मुझे धर्म का कोई विचार नहीं था। मैं तो बड़ी सावधानी से आपके समीप रहकर व्रत में छिद्रों को देखा करता था कि कब आपके व्रत में छिद्र हों और कब आपका व्रत भङ्ग हो। देवि! आज आप बाल खोले सन्ध्या के समय उलटी खाट पर उत्तर सिर करके सो रही थीं। एक तो सन्ध्या समय में सोना पाप है दूसरे बाल खोले उलटी खाट पर, तीसरे आपका मुख जूठा था। चौथे आप बिना हाथ पैर धोये ही सो गयीं। इन दोषों के कारण आपका व्रत भङ्ग हो गया। व्रत में छिद्र होने से मुझे साहस हुआ और आपके उदर में घुसकर आपके गर्भ के ४९ टुकड़े कर डाले। पहिले मैंने ७ टुकड़े किये थे। जब ७ टुकड़े करने पर भी न मरे तो फिर एक-एक के सात-सात टुकड़े किये। ४९ होने पर भी जब न मरे तब तो मैं आश्चर्य चकित हो गया और समझ गया कि यह तो सबके जीवन-दाता परम पुरुष श्रीमन्नारायण की ही उपासना से प्राप्त होने वाली कोई सिद्धि है। माँ! मैंने अपने जीवन की रक्षा के लिये स्वार्थ

भाव से प्रेरित होकर सेवा की। मैं बड़ा नीच हूँ। सेवा तो सदा स्वार्थ भाव को छोड़कर करनी चाहिये। मोक्ष की भी इच्छा न रखनी चाहिये। जिन्हें संसारी स्वार्थ की आकांक्षा नहीं, वास्तव में तो वे ही स्वार्थ कुशल नर हैं। जो नाशवान् तुच्छ भोगों की इच्छा से भगवान् को भजते हैं, वे तो जान बूझकर अपने लिये कुआ खोदते हैं नरक का मार्ग प्रशस्त करते हैं।''

दिति ने कहा—''इतना सब जानते हुए भी तैंने ऐसा गर्भ हत्या का पाप क्यों किया?''

इन्द्र ने लज्जित होकर कहा—''अब माताजी! इसका मैं क्या उत्तर दूँ। यह मेरी छुद्रता ही है। स्वार्थी क्षुद्र पुरुष सदा क्षुद्रता ही करते हैं। बड़े लोगों की सदा बड़ी ही बातें होती हैं। माँ तुम सब प्रकार से बड़ी हो। मेरी माता की सहोदरा भगिनी हो, पूज्य पिता की प्यारी पत्नी, हो मेरी माता के तुल्य हो। अब तो मैं आपके उदर में प्रवेश करके आपके बच्चों के साथ फिर से पैदा हुआ हूँ, फिर से मेरा नया जीवन हुआ है, अत: मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। मैंने की तो दुष्टता ही है। किन्तु जिनके रक्षक श्रीहरि हैं, उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। सौभाग्य की बात है कि मेरी इतनी क्रूरता करने पर भी आपके सबके सब बालक जीवित हैं और मुझसे द्वेष न करके सगे भाई की भाँति स्नेह करते हैं।''

इन्द्र की ऐसी सत्य और तथ्यपूर्ण बातें सुनकर दिति उन पर बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने कहा—''अच्छी बात है बेटा! भगवान् की जो इच्छा होती है, वही होता है। मनुष्य सोचता है कुछ हो जाता है कुछ बड़े सौभाग्य की बात है कि ये बच्चे तुझे अपना भाई मानते हैं। तू भी मेरे पेट में से फिर उत्पन्न हुआ है अत: उन्नचास ये और एक तू सब मिलकर तुम मरुद्गण कहाओगे। ये तेरे प्रधान पार्षद होंगे। सदा तेरे समीप सेवा में समुपस्थित रहा करेंगे। तू इन सबको संग लेकर हर्ष के सहित स्वर्ग चला जा। मैं तेरे शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हूँ।''

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—''राजन्! दिति के भाव को देखकर

इन्द्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपना नूतन ही जन्म समझा। वे दिति को प्रणाम करके और मरुद्‌गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। इस प्रकार मरुद्‌गण दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी सोमपायी देवता हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मरुद्‌गणों की

उत्पत्ति का प्रसंग कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?''

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—''प्रभो! जिस पुंसवन व्रत को देवी दिति ने किया था, उस व्रत को मैं विधिपूर्वक और सुनना चाहता हूँ। क्योंकि यह वैष्णव व्रत है, इसके करने से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसकी विधि मुझे बताइये। कब से किया जाता है? कैसे पूजनादि होता है?''

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते हैं—''मुनियो! महाराज परीक्षित् के प्रश्न करने पर श्रीशुकदेवजी ने इस पर परम पावन वैष्णव व्रत की विधि बताई तथा कैसे पूजा करनी चाहिये किस मन्त्र का जप करना चाहिये, किस मन्त्र से हवन करना चाहिये, कब से यज्ञ व्रत आरम्भ करना चाहिये ये सब बातें बताई।''

इस पर शौनकजी ने कहा—''सूतजी! इस व्रत को हमें भी बताइये।''

इस पर सूतजी ने कहा—''महाराज! इस कथा प्रसङ्ग में अङ्गन्यास करन्यास आदि विधि विधानों को बताने लगूँ तो कथा का प्रवाह रुक जायगा। अत: मेरी इच्छा ऐसी है, इन व्रतादिकों को इकट्ठा ही प्रसङ्गानुसार बताऊँगा। फिर आपकी जैसी आज्ञा हो।''

इस पर शौनकजी ने कहा—''अच्छी बात है, यही सही किन्तु हम उन ४९ मरुद्गणों का नाम और जानना चाहते हैं। यदि आपको याद हों तो हमें सुनावें।''

इस पर सूतजी ने कहा—''महाराज! आपकी कृपा से मुझे याद तो सब हैं, किन्तु ये सब-के-सब मरुद्गण ही कहलाते हैं। वैसे उनके नाम भी सुनिये—

(१) एकज्योति, (२) द्विज्योति, (३) त्रिज्योति, (४) चतुज्योंति, (५) ज्योति, (६) एक शक्र, (७) द्विशक्र, (८) त्रिशक्र, (९) इन्द्रगति, (१०) प्रतिसकृत, (११) मित, (१२) सम्मित, (१३) अमित, (१४) ऋत-जित्, (१५) सत्यजित, (१६) सुषेण, (१७) सत्यजित (द्वितीय), (१८) अतिमित्र, (१९) नमित्रे, (२०) पुरुमित्र, (२१) पुराजित्, (२२) ऋत, (२३)

ऋतुधाता, (२४) विधाता, (२५) धारण, (२६) ध्रुव, (२७) विधारण, (२८) महातेजा, (२९) ईद्दक्ष, (३०) अद्दक्ष, (३१) एताद्दक, (३२) अमिताशन, (३३) क्रीतिन, (३४) प्रसद्दक्ष, (३५) सरभ, (३६) धातु, (३७) उग्र, (३८) ध्वनि, (३९) भीम, (४०) अतिभुक्त, (४१) क्षिप, (४२) सत, (४३) द्युति, (४४) वपु, (४५) अताधृष्य, (४६) वास, (४७) काम, (४८) जय, (४९) विराट्।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने मरुद्गण उत्पत्ति प्रकरण सुनाया। इसके सुनने सुनाने से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। इस देवासुर वंश के श्रवण के अनन्तर जो महाराज परीक्षित् ने भक्ति को बढ़ाने वाला अत्यन्त ही दिव्य प्रश्न पूछा है उसे मैं आपसे कहूँगा। इसमें दैत्यकुलभूषण भक्ताग्रगण्य महामना प्रह्लादजी का परम पावन चरित्र होगा।"

छप्पय

दिति आयसु सिर धारि मरुद्गन स्वर्ग सिधाये।
इन्द्र भये अति मुदित प्रान फिरितें जनु पाये।।
यों दितिके ये पुत्र इन्द्र पार्षद कहलाये।
मातृदोषकूँ त्याग असुर कुलतें बिलगाये।।
परम पुण्यप्रद मरुदगण, को चरित्र तुमतें कह्यौ।
अन्य प्रश्न पूछो नृपति! यह प्रसङ्ग पूरन भयो।

भगवान् में विषमता क्यों?

(४४५)

समः प्रियः सुहृद ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद् विषमो यथा ।।☆

(श्री० भा० ७ स्क० १ अ० १ श्लोक)

छप्पय

अब पूछें पुनि नृपति प्रभो! शङ्का इक भारी।
समदरशी भगवान् सुहृद सबके सुखकारी।।
तब च्यौं देवनि हेतु फेरि दैत्यनिकूँ मारें।
च्यौ अमरनिको पक्ष लेहिँ असुरनि संहारे।।
नारायनके गुननि प्रति, शङ्का मो मनमहँ भई।
ताहि नाश भगवन करें, बात हियेकी कहि दई।।

वेद शास्त्रों के वचनों में विश्वास न करना ही नास्तिकता कहलाती है। वेदशास्त्रों के वचनों को सत्य मानकर उनके आधार पर परस्पर में विरोधी से वचन जान पड़ते हों उनका समन्वय करना, मीमांसा करना इसी का नाम आस्तिक दर्शन है। वैसे तो भगवान् जो भी करते हैं सब अच्छा ही करते हैं, इसी बात पर विश्वास रखना चाहिये, किन्तु यदि कोई विरोधी बात जान पड़े तो श्रद्धापूर्वक उस विषय में शङ्का करना दोष नहीं। जिन्हें शङ्का उठे ही नहीं वे तो बड़भागी पुरुष हैं, किन्तु जिन्हे उठे उन्हें उसका महत्पुरुषों के समीप जाकर समाधान करा लेना चाहिये। महाराज

☆ महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—"ब्रह्मन् ! श्रीभगवान् तो सभी प्राणियों के स्वभाव से ही प्रिय हैं। उनके लिये सभी प्राणी समान है, वे सबके सुहृद् हैं, फिर वे इन्द्र के लिये विषम दृष्टि पुरुषों की भाँति दैत्यों का वध क्यों करते हैं?"

परीक्षित् ने ऐसी ही एक सुन्दर शास्त्रीय शङ्का की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दक्ष की साठ कन्याओं के वंश की कथा समाप्त हो गई, तब महाराज परीक्षित् ने कथा का तार टूटने न पाये, इसलिये एक शङ्का उपस्थित की। महाराज ने भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! मैंने आपके मुख से अत्यन्त ही सुन्दर विदुर मैत्रेय सम्वाद सुना, इस प्रसङ्ग में हिरण्याक्ष वध, देवासुर संग्राम, वृत्रवध, दक्ष प्रजापति के कन्याओं के वंश का वर्णन, देवताओं तथा दैत्यों की उत्पत्ति और मरुदगणों का चरित्र ये सब कथायें सुनी। इनमें मैंने अनुभव किया भगवान् देवताओं का पक्षपात करते हैं। वे अमरों के कहने से असुरों का संहार किया करते हैं। देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों को मारते हैं। इन्द्र के साथ स्वयं गरुड़ पर चढ़कर असुरों से युद्ध करते हैं उन्हें परास्त करते हैं। ऐसा भगवान् क्यों करते हैं? भगवान् तो समदर्शी हैं। उनके लिये तो जैसे ही देवता वैसे ही दैत्य।

मनुष्य दूसरों का पक्ष दो ही कारणों से लेते हैं, या तो एक से राग हो और दूसरे से द्वेष हो अथवा किसी प्रकार का लोभ हो। भगवान् की दृष्टि में तो प्राणीमात्र एक से हैं। सभी उनकी सन्तानें हैं, अतः उन्हें न तो दैत्यों से किसी प्रकार का द्वेष उद्वेग भी है और न देवताओं से किसी प्रकार का राग ही। अब रही लोभ की बात लोभ उसे होता है, जो अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना चाहता हो। भगवान् के लिये कोई वस्तु अप्राप्य नहीं। ब्रह्मादिक देवता भी उन्हीं की दी हुई विभूति का उपभोग करते हैं। उनके ही दिये कण मात्र ऐश्वर्य से वे ऐश्वर्यशाली बने हुए हैं वे साक्षात् कल्याण स्वरूप ही हैं। इसलिये यह भी नहीं कह सकते कि भगवान् किसी लोभ लालच से देवताओं का पक्ष ले लेते हों, फिर वे ऐसा विषम व्यवहार क्यों करते हैं? इस विषय में मुझे बड़ी शङ्का हैं। भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं, सब विषयों के ज्ञाता हैं मेरी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् की इस शङ्का को सुनकर श्रीशुकदेवजी क्रुद्ध नहीं हुए। उन्होंने राजा को डाँटकर यह नहीं कहा कि तुम बड़े नास्तिक हो जी, भगवान् के विषय में शङ्का करते हो? उनकी शङ्का को असङ्गत नहीं बताया। यही नहीं उन्होंने राजा की शङ्का की प्रशंसा की। इस बात को सुनकर उनका रोम-रोम खिल उठा और राजा को साधुवाद देते हुए बोले—"महाराज! आपने यह तो बड़ा ही सुन्दर प्रश्न किया। इस शंका का तो परम्परागत सम्बन्ध श्रीहरि के विचित्र चरित्रों के साथ है। इसका समाधान करते हुए उदाहरण में आपसे मैं परम भागवत श्रीप्रह्लादजी का चरित्र कहूँगा। आप कहते हैं भगवान् असुर से द्वेष करते हैं तो प्रह्लादजी भी असुर ही हैं। वे संसार में सर्वश्रेष्ठ भक्त माने जाते हैं। जहाँ परमभागवत भगवद्भक्तों की गणना की जाती है, वहाँ सर्वप्रथम श्रीप्रह्लादजी का ही नाम लिया जाता है। असुर ही उनके यश का कीर्तन करते हों, सो भी बात नहीं। उनके यश का गान तो नारदादि बड़े-बड़े महर्षि देवर्षि तक करते हैं। मैंने अपने पिता भगवान् कृष्ण-द्वैपायन के मुख से यह भक्ति विवर्धिनी कथा श्रवण की थी अतः उस कथा को उनके पादपद्मों में प्रणाम करके मैं आरम्भ करूँगा। अब पहिले मैं आपकी शंका का संक्षेप में समाधान करके तब महाभागवत प्रह्लादजी के परम पावन चरित्र को कहूँगा।

देखिये, इस जगत् में जो कुछ है सब भगवान् का ही विलास है। भगवत् सत्ता से ही इस प्रपञ्च की सत्ता है। भगवान् को इससे पृथक् कर दीजिये तो कुछ भी शेष न रह जायगा। केले के पेड़ को लेके और उसके वल्कल को हटाकर चाहें कि हम केले के पेड़ को बनाये रखें तो वह नहीं रहेगा, उसके वल्कल को उतारते जाइये एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा निकलता जायगा। अन्त में कुछ न रहेगा। प्याज के छिलकों को निकालकर आप चाहे प्याज का अस्तित्व बनाये रखें तो नहीं रह सकता। सब पत्तों को पृथक् कर दीजिये कुछ भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार भगवान्

वास्तव में निर्गुण अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृति से अतीत है। फिर भी अपनी विचित्र रूप माया का आश्रय लेकर स्वयं ही बाध्य बाधक भाव को प्राप्त हो गये हैं।

स्वयं संसार बन गये हैं और स्वयं ही उसे प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे सूर्य आँखों में रहकर ज्योति प्रदान करते है यदि चक्षु के अधिष्ठातृदेव सूर्य न हों तो आँखें रहते हुए भी नहीं देख सकतीं। आँखों में तो अधिष्ठातृ रूप से हैं और बाहर प्रकाश रूप से हैं। आँखें हैं भी यदि बाहर प्रकाश न हो तो आँखों के रहते हुए भी नहीं देख सकते। इसी प्रकार वे ही प्रकाश हैं वे ही प्रकाशक हैं। आत्मा तो निर्गुण हैं। ये जो सत्य, रज और तम तीन गुण हैं ये आत्मा के नहीं प्रकृति के गुण हैं। जब भगवान् अपनी माया का आश्रय लेकर प्रकृति के गुणों में विहार करने से दृष्टिगोचर होते हैं तो इन गुणों में न्यूनाधिकता दिखाई देने लगती हैं। साम्य में सृष्टि नहीं। जब ये तीनों गुण साम्यावास्था में रहते हैं तो प्रकृति सोई रहती है, वह कुछ भी नहीं कर सकती। जहाँ गुणों में विषमता हुई कि संसार चक्र चलने लगता है। कोई गुण कम हो जाता है, कोई अधिक।''

इस पर महाराज ने पूछा—''प्रभो! कब कौन-कौन से गुण का प्राबल्य होता है, कब किस-किस गुण की न्यूनता होती है?''

यह सुनकर शुक ने कहा—''इन गुणों की वृद्धि और ह्रास के कारण ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन युगों की कल्पना की गई है। किन्तु इन सबमें भगवान् की इच्छा प्रधान है। उनकी इच्छा को क्या कहना चाहिये। उनकी क्रीड़ा ही प्रधान हैं। कभी सत्व बढ़ जाता है तो रज और तम घट जाता है, कभी रज बढ़ जाता है तो सत्व और तम न्यून हो जाते हैं और कभी तम बढ़ जाता है तो सत्व और तम न्यून हो जाते हैं और कभी तम बढ़ जाता है तो सत्व और रज दुर्बल से बन जाते हैं। तीनों की एक साथ न वृद्धि होती है न क्षति ही।''

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! कैसे जाने कि अब सत्व कि वृद्धि है, अब रजोगुण का प्राबल्य है और अब तमोगुण की प्रधानता है?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने उत्तर दिया—"देखिये, राजन्! जिस समय भगवान् को सत्वगुण की वृद्धि करनी होती है उस समय भगवान् अपनी विशेष शक्ति से देवता, ऋषि, मुनि आदि सत्वगुणी प्राणियों में प्रवेश करते हैं। सर्वत्र सत्वगुण का ही बोलबाला होता है। यज्ञयाग, ज्ञानसत्र, सत्सङ्ग, कथावार्ता आदि की धूम मच जाती हैं। जब भगवान् को रजोगुण की वृद्धि करनी होती है तो असुरों का बल बढ़ जाता है देवता निर्बल हो जाता हैं, यहाँ तक कि नारदादि परम ज्ञानी मुनियों को भी उन असुरों के संकेत पर चलना पड़ता है, वे त्रैलोक्य पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। सर्वत्र मार धाड़ मच जाती हैं, सभी प्राणी कर्मों में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं, सबके चित्त चञ्चल हो जाते हैं। जैसे हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु के समय में सब हो गये थे। इसके अन्तर जब श्रीहरि को तमोगुण की वृद्धि करनी अभीष्ट होती है तो यक्ष राक्षसों की बढ़ती होती है। वे अत्यन्त निद्रालु, महान् प्रमादी और विषय लम्पट होते हैं। अधर्म को धर्म मानते हैं। उस समय ऋषि मुनि देवता गन्धर्व सभी का बल क्षीण-सा हो जाता है सभी को राक्षसों के अधीन रहना पड़ता है। आत्मा इन तीनों गुण से पृथक हैं?"

इस पर महाराज परीक्षित्जी ने कहा—"आत्मा यदि पृथक् है तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये। हमें तो भिन्न-भिन्न देहों में भिन्न-भिन्न आकृतियाँ भिन्न-भिन्न नाम ही दिखाई देते हैं। इससे तो हम यही समझते हैं कि देह ही आत्मा है।"

इस पर हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा एक है, शरीर बहुत से हैं, शरीर एक देशीय है, आत्मा सर्वव्यापक है। अच्छा, तुमने अग्नि देखी है?"

महाराज बोले—"हाँ, महाराज! क्यो नहीं देखा है, कहीं

अग्नि गोल होती है, कही टेढ़ी, कहीं मोटी, कहीं बहुत, कहीं थोड़ी।''

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—''राजन्! यह जो आप टेढ़ी, मेढ़ी, छोटी, मोटी आदि आकृतियाँ देख रहे हैं ये अग्नि की नहीं। अग्नि को अरूप तेजोमय है। उसका कोई रूप नहीं। जिस आश्रय में प्रकट होती है, वैसे ही दीखने लगती है। लकड़ी टेढ़ी हुई तो अग्नि भी वैसी ही दीखती है लोहे का गोला उसमें गोल दीखता है। उसके शान्त होने पर अग्नि का नाश नहीं होता, व्यष्टि अग्निशक्ति समष्टि अग्नि में मिल जाती है। मिल जाती हैं यह कहना भी ठीक नहीं। आकाश सर्वव्यापक है। घट में मठ में सर्वत्र आकाश है। घट के फूट जाने पर घट का आकाश सर्वगत आकाश में मिल जाता है। अर्थात् उसमें जो घट सम्बन्ध से व्यवधान-सा दिखाई देता था वह नहीं रहता। आप काष्ठ आदि से अग्नि की उपलब्धि करना चाहें तो न होगी। अग्नि को प्रकट करने के निमित्त कोई आश्रय चाहिये। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देहों में भिन्न-भिन्न रूपों से आत्मज्योति प्रकाशित हो रही है। इसीलिये देहादि से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती। मूर्ख पुरुष जैसे काष्ट लोहा आदि अग्नि प्रकाशित होने वाले पदार्थों को ही अग्नि कहते हैं वैसे ही अविवेकी पुरुष इन देहों को ही आत्मा मानते हैं। किन्तु मनीषी जन आत्मा काल से रहित हैं, आत्मा स्वभाव से रहित है, आत्मा कर्मों से रहित है'' ऐसे सभी वादों का वाध करते हुए अन्त में उसे अपने अन्तःकरण में ही अन्तर्यामी रूप से प्राप्त करते हैं। वे ही आत्मज्ञानी, जीवन्मुक्त भगवद्भक्त कहलाते हैं।''

राजा परीक्षित् ने कहा—''अब भगवन्! मुझे शंका इस बात की है, जब भगवान् पूर्ण काम हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं तो फिर वे काल कर्म, स्वभावों में विभिन्नता करके इस दृश्य प्रपंच में प्रविष्ट क्यों होते हैं?''

इस पर शीघ्रता से श्रीशुकदेवजी बोले—''अजी, राजन्!

प्रविष्ट कहाँ होते हैं? प्रविष्ट हुए से दिखाई देते हैं। उनके बिना किसी की सत्ता ही नहीं। फिर जीवों के अनन्त कालीन अदृष्टों के कारण अपनी माया को भगवान् कर्म फल भुगाने के लिये प्रेरित करते हैं। या यों कह लो जब वे सोते-सोते थक जाते हैं तो कुछ विनोद करना चाहते हैं। नित्यपूर्ण काम का थका और विनोद ये भी उपलक्षण मात्र हैं। हाँ, शब्दों में तो ये भाव अधूरे ही व्यक्त होते हैं। तो तब वे भिन्न-भिन्न शरीरों की रचना करना चाहते हैं। शरीरों की रचना के निमित्त रजोगुण को पृथक् उत्पन्न करते हैं। वे ब्रह्मा कहलाते हैं। वे नाना भाँति की सृष्टि कर डालते हैं। की हुई सृष्टि का पालन करते हुए उनमें रमण करना चाहते हैं तो वे सत्वगुण की सृष्टि करके विष्णु रूप में प्रकट होते हैं और मनु, मनु पुत्र, इन्द्र, देवता, सप्तर्षि तथा मन्वन्तरावतार इस प्रकार ६ रूपों में विभक्त होकर भाँति-भाँति की क्रीड़ा करते हैं। सृष्टि की रक्षा करते हैं। जब संहार की इच्छा होती है तो अपनी तमोगुणी मूर्ति रुद्रदेव को प्रेरित करते हैं। वे समस्त सृष्टि का संहार कर देते हैं। यही खेल प्रवाह रूप से नित्य चलता रहता है। भगवान् काल के अधीन नहीं हैं। स्वयं काल ही भगवान् के अधीन है। वे कालों के भी काल हैं। ये कालदेव जगत् के निमित्तभूत प्रकृति और पुरुष के सहकारी तथा आश्रय रूप हैं। इसीलिये जब सत्वगुणी काल आ जाता है। तब भगवान् देवताओं का पक्ष लेकर असुरों से लड़ते हैं। असुरों को पराजित करते हैं। जब रजोगुण का काल आ जाता है, तब देवताओं से बोलते भी नहीं, क्षीर सागर में तानदुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मीजी तलुओ को सहराती रहती हैं। देवता पुकारते ही रहते हैं। उन्हें मार पीटकर असुर स्वर्ग पर अधिकार कर लेते हैं। सो राजन्! यह गुण प्रवाह चल रहा है। भगवान् को न किसी से राग न द्वेष। सत्वगुण की अभिवृद्धि के काल में वे सत्य प्रधान अमर समाज का उत्कर्ष करने के निमित्त असुरों का संहार करने से दिखाई देते हैं। वास्तव में देखा जाय तो उनके लिये असुर, यक्ष, राक्षस, तिर्यक्

मनुष्य आदि सभी चराचर के प्राणी समान हैं। इस विषय में हम आपको एक बड़ा सुन्दर प्राचीन उपाख्यान सुनाते हैं उसके सुनने से आपकी शंका का समाधान हो जायेगा।''

श्री सूतजी कहते हैं—''मुनियो! यह कह कर मेरे गुरुदेव राजा परीक्षित को युधिष्ठिर नारद संवाद सुनाने को उद्यत हुए।''

छप्पय

हँसि बोले शुकदेव—करी शङ्का नृप सुन्दर।
यह सब माया रचें प्रकृति पालक विश्वम्भर।।
आत्मा निर्गुण नित्य प्रकृतिके ये तीनों गुन।
कबहुँ सत्व बढ़ि जाइ कबहुँ तम कबहुँ रजोगुन।।
जब जैसे गुन बढ़त है, हरि तब तैसोई करें।
सत्य वृद्धिके समयमहँ, असुर मारि सुर दुख हरें।।

भगवान् निर्गुण तथा निर्लेप हैं

(४४६)

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थ कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्।।
हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ।। ☆

(श्री० भा० ७ स्क० १ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

राजसूयके समय युधिष्ठिर नारद मुनि सन।
पूछ्यो विस्मय सहित प्रश्न नृप जिही विलक्षन।।
सदा करे शिशुपाल कृष्ण की निन्दा पापी।
मुक्त भयो कस दुष्ट अधम भक्तनि संतापी।।
धर्मराजकी बात सुनि, नृप सन मुनि बोले वचन।
निराभिमान हरिमहँ नहीं, राग द्वेष निन्दा स्तवन।।

संसार में बढ़ना तो सभी चाहते हैं, किन्तु इस शरीर को त्यागकर बढ़ना नहीं चाहते। मैं ब्राह्मण बन जाऊँ, किन्तु इसी शरीर से मेरा शरीर दिव्य हो जाय, किन्तु इसे त्यागना न पड़े। मैं धनी, मानी, यशस्वी, प्रतिष्ठित, पूजित, सत्कृत, पवित्र, ज्ञानी, ध्यानी जो भी होऊँ इस शरीर से होऊँ। इस भाव में दो बातें हैं, एक तो बड़ा बनने की अभिलाषा, दूसरे शरीर का ममत्व। बड़ा बनने की इच्छा तो आत्मा का गुण है। क्योंकि आत्मा से बढ़कर तो कोई है

☆ *महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर भी नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार के आश्रयभूत इस देह की रचना प्रकृति और पुरुष के अविवेक से ही हुई है। हे राजन् ! अहंता ममता रूप विषमता और दण्ड तथा निन्दा आदि के दुःख की अनुभूति उस शरीर के अभिमान से ही जीवों में होती है।"*

नहीं और शरीर में ममत्व होना अज्ञान का चिन्ह है। यदि शरीर में से ममत्व हट जाय तो जीव शिव स्वरूपही है। फिर वह बद्ध नहीं। छूटा नहीं जीवन्मुक्त है, बड़े-से-बड़ा है। जब तक हम विषयों के दास हैं, अनित्य नाशवान् शरीर को अपना मान बैठे हैं, तब तक दुखी हैं, अशान्त हैं। जहाँ विषयदास न होकर हरिदास हो गये, जहाँ नित्य शाश्वत् सौन्दर्य के निधान श्रीमन्नारायण को अपना मानने लगे, तब दुख का नाम भी नहीं रहता। आनन्द के सागर में डुबकियाँ लगाते रहते हैं। प्रकृति के गुणों को अविवेक से हम अपने में आरोपित किये हुए हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर चुके तब वे वहीं यज्ञ मण्डप में मुनि मण्डली से घिरे बैठे थे। देश-देशान्तर के राजा भी उपस्थित थे। स्वयं साक्षात् भगवान् द्वारकाधीश भी विराजमान थे। उसी समय मुनियों के समक्ष धर्मराज युधिष्ठिर ने देवर्षि नारदजी से एक प्रश्न किया। पहिले तो उन्होंने नारदजी की विधिवत् पूजा की फिर प्रणाम करके उनसे बोले—"भगवन्! मेरी शंका है, आप आज्ञा दें तो मैं पूछूँ?"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए नारदजी ने कहा—"राजन्! आप अपनी शंका को अवश्य पूछो, मैं इन समस्त मुनियों के सम्मुख आपकी शंका का यशाशक्ति यथामति समाधान करूँगा।"

नादरजी को प्रसन्न और उत्तर देने के लिये उद्यत देखकर धर्मराज ने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन्! मेरी शंका सामयिक है। अभी आपने देखा था, शिशुपाल भगवान् को न कहने योग्य कुवाक्य कह रहा था। बुरी-बुरी गालियाँ दे रहा था। 'अन्त में वह भगवान् के चक्र से मारा गया। हमें तो आशा थी कि यह मरकर रौरवादि घोर नरकों में जायगा, किन्तु वह तो प्रत्यक्ष सबके देखते-ही-देखते भगवान् में मिल गया। उसकी ज्योति की हरि के श्री अंग में समा गई, उसकी सायुज्य मुक्ति हो गई। यह कैसी महान् आश्चर्य की बात है।"

इस पर हँसकर नारदजी ने पूछा—"राजन्! इसमें आश्चर्य

करने की कौन-सी बात है?''

राजा युधिष्ठिर ने विस्मय के साथ कहा—''अजी, महाराज! आपको भले ही आश्चर्य न लगता हो। हमें तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है और आश्चर्य की बात भी है। देखिये, साधारण आदमी को भी गाली दे तो देने वाले को बड़ा पाप लगता है। किसी की निन्दा करना, किसी को गाली देना यह महापाप है। संसार में निन्दक के बराबर कोई पाप नहीं। घोर-से-घोर यातना वाले नरकों में निन्दक ही जाते हैं। महाराज! इस विषय में मैंने एक कहानी सुनी है आप आज्ञा दें तो मैं सुनाऊँ।''

नारदजी ने कहा—''हाँ, राजन्! सुनाइये। आप तो धर्म के अवतार ही हैं। आप जो भी बात कहेंगे, वह धर्म का सार ही होगा।''

यह सुनकर विनय के सहित धर्मराज बोले—''भगवन्! मैंने सत्संग के प्रसंग में महर्षियों के मुख से एक कथा सुनी है किसी राजा को अपनी प्रशंसा सुनने का बड़ा व्यवसन था। वह निरन्तर ऐसे कार्य करता कि सब लोग उसकी मुख पर आकर प्रशंसा करते। प्रशंसकों को बहुत धन देता था। प्रशंसा के लिये धर्म भी करता था। जब वह स्वर्ग में गया तो उसे रहने को बड़े-बड़े सुवर्ण के महल मिले, किन्तु भीतर जाकर वह देखता है तो उन महलों में घोड़े की लीद भरी है। कहीं रहने को स्थान नहीं। थोड़ा-सा स्थान लीद से रहित है।

राजा ने देवराज इन्द्र से पूछा—''हे देवेन्द्र! मेरे घर में यह घोड़ी की लीद क्यों भरी है?''

इस पर स्वर्गाधिपति इन्द्र बोले—''राजन्! आप निरन्तर अपनी मिथ्या प्रशंसा में लगे रहे। मिथ्या प्रशंसा लीद के ही समान निस्सार है। आप धन देकर अपनी प्रशंसा तो सुनते थे, किन्तु निन्दा नहीं सुनते थे। जो लोग छिपकर आपकी निन्दा करते थे, वे थोड़ी-सी लीद को खा गये। उसी से इतना स्थान लीद से रिक्त है। आपके राज्य में एक बढ़ई है। यदि वह आपकी निन्दा कर दे तो

अभी यह भवन खाली हो जाय, क्योंकि वह कभी किसी की निन्दा नहीं करता। राजा इन्द्र की आज्ञा लेकर वेष बदल कर उस बढ़ई के पास गये और जाकर बोले—"हे महानुभाव! आप बड़े धर्मात्मा हैं। देखिये, इस देश का राजा कैसा प्रतिष्ठालोलुप था, सदा अपनी प्रशंसा ही सुनता रहता था। वह तो बड़ा नीच था।"

यह सुनकर बढ़ई हँसा और हाथ जोड़कर बोला—"राजन्! आप मेरे ऊपर अकारण अन्याय क्यों करते हैं। उस सुवर्ण के भवन में भरी लीद को मुझे क्यों खिलाना चाहते हैं? महाराज! मैंने किसी की आज तक निन्दा नहीं की है न मैं करूँगा। परनिन्दा से बढ़कर कोई दूसरा पाप संसार में नहीं है। जब सभी अपनी प्रकृति के अनुसार अवश हैं, निन्दा करने से क्या लाभ?"

महाराज युधिष्ठिर नारदजी से कहते हैं—"ब्रह्मन्! बढ़ई की ऐसी बात सुनकर राजा उदास होकर लौट गया। सो, हे महर्षि! निन्दा से बढ़कर मुझे तो दूसरा पाप संसार में दृष्टिगोचर होता नहीं। देखिये, राजर्षि अङ्ग के पुत्र वेन ने ब्राहणों की निन्दा की थी। इस कारण उसे भयंकर नरकों की यातना सहनी पड़ी। जब ब्राह्मणों की निन्दा से वेन नरक गये तो यह शिशुपाल तो साक्षात् ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव को गाली दे रहा था। यहाँ राजसूय यज्ञ में ही गाली दी हो, सो भी बात नहीं। हम तो इसके बाप को भी जानते हैं। जब यह पैदा हुआ था, तब भी हम लोक व्यवहार के नाते इसे देखने गये थे। वैसे भी हम इनके यहाँ जाते-आते रहते थे। हमारे सम्बन्धी ही ठहरे यह तो हमारे मौसी का लड़का ही था, जब से इसने तुतलाकर बोलना आरम्भ किया, तभी से यह भगवान् से द्वेष करने लगा। उन्हें कुवाच्य कहता था, उनकी निन्दा करता था। ऐसे पापी को नरक से भी दुखदायी यातनायें हों, वे देनी चाहिये थीं। जैसा यह दमघोष का महापापी पुत्र शिशुपाल था वैसा ही इसका मित्र दन्तवक्र था। वह भी जन्म से ही भगवान् से द्वेष करता था। ये दोनों ही भगवान् के हाथ से मरे और दोनों की ही मुक्ति हो गई।"

हँसकर नारदजी बोले—"तो आपकी क्या सम्मति है? इन्हें

क्या दण्ड मिलना चाहिये?''

रोष के स्वर में धर्मराज ने कहा—''महाराज! इस पाप का तो जो भी दण्ड हो वही थोड़ा है। मेरी सम्मति में तो जिस जिह्वा ने अविनाशी परब्रह्म, इन भगवान् वासुदेव को कटुवाक्य कहे उस जीभ में गलित कुष्ट हो जाना चाहिये। वह जिह्वा गलकर गिर जानी चाहिये। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग में अरबों-खरबों साँप, बिच्छू काटने की वेदना निरन्तर बनी रहनी चाहिये। यह सब तो हुआ नहीं, उलटे उन्हें वह मुक्ति मिली जिसके लिये योगी अनेकों जन्मों तक स्वाध्याय करके शरीर को सुखाते रहते हैं। महाराज! इस घटना से तो हमें बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है। हमारी बुद्धि वायु को झकोरों से चंचल हुई दीप शिखा के समान उद्भ्रान्त-सी हो रही है। आप समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, भगवान् के कृपापात्र हैं। कृपा करके हमारी इस शंका का समाधान कीजिये। मेरे ही समान ये सब राजे-महाराजे ऋषि मुनि भी इस प्रश्न का उत्तर सुनने को समुत्सुक हो रहे हैं।''

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—''राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसे भगवत प्रेम से सने हुए वचनों को सुनकर नारदजी परम सन्तुष्ट हुए और हँसते हुए धर्मराज के प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत हुए।''

नारदजी ने कहा—''राजन्! हम आप से पूछते हैं कि ये निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार आदि शरीर के होते हैं या आत्मा के?''

धर्मराज ने कहा—''भगवन्! आत्मा का क्या सत्कार तिरस्कार? उसकी कोई क्या निन्दा स्तुति कर सकता है। आत्मा तो नित्य, एकरस, सत्कार, तिरस्कार से परे हैं। निन्दा स्तुति तो शरीर सम्बन्ध से ही हैं।''

इस पर नारदजी ने कहा—''हाँ राजन्! आप सत्य कहते हैं। आप यह बताइये कि इस शरीर की उत्पत्ति क्या आत्मा से होती है?''

धर्मराज ने कहा—''नहीं, भगवन्! आत्मा में कहाँ उत्पत्ति विनाश? शरीर की रचना तो प्रकृति और पुरुष के आश्रय से हुई

है। इनसे जो उत्तम पुरुष हैं, वे ही पुरुषोत्तम कहलाते हैं।''

नारदजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—''महाराज! आप तो सब जानते ही हैं। देखिये, यह मुझसे छोटा है यह बड़ा है। इस प्रकार की विषमता अहंता ममता के कारण होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं पण्डित हूँ इस प्रकार की अहंकृति का नाम ही अहंता है। यह मेरा धन है, ये मेरे जन है, यह मेरा गृह है, यह मेरा कुटुम्ब परिवार है इस प्रकार के मेरे पन का नाम ममता है। अहंता ममता जीवों में शरीर अभिमान के हुआ करती है। जो जितना ही शरीराभिमानी होगा, उसे उतनी ही अहंता ममता होगी। उतना ही वह सत्कार से सुखी और तिरस्कार से दुखी होगा। वह स्तुति सुनकर हर्षित होगा और निन्दा सुनकर दुखी होगा। देहाभिमानी पुरुषों की निन्दा करें तो नरकादि लोकों में जाकर नाना यातनायें भोगनी पड़ेगीं। जिन श्री हरि में देह के सम्बन्ध से अहंता ममता का लेश भी नहीं है। उन्हें यदि मार दो—यद्यपि उन्हें कोई मार नहीं सकता तो भी पाप न लगेगा। द्वेष भाव से निन्दा करो तो निन्दा से नरकादि लोकों की प्राप्ति भी न होगी। देहाभिमान जीवों में अहंता ममता के भाव से होते हैं। सर्वात्मा श्री हरि में छोटेपन बड़ेपन का भाव नहीं होता। क्योंकि वे तो एक अद्वितीय हैं। वे किससे बड़े किससे छोटे। भगवान् किसी को मारते भी हैं तो वैर के कारण द्वेष से नहीं, कल्याण के निमित्त मारते हैं। इससे मरने वाले का कल्याण ही होता है। क्योंकि भगवान् कल्याण के निधान हैं। उनसे जीवों का कैसे भी सम्बन्ध हो जाय तो उनका कल्याण ही होगा। छुरी को फल पर डालो हो फल ही कटेगा। यदि फल को छुरी पर डालो तो भी फल ही कटेगा। इसी प्रकार भगवान् से जो स्वयं सम्बन्ध कर ले उसका भी कल्याण होगा और भगवान् को द्वेष वश न चाहे भगवान् ही हठपूर्वक सम्बन्ध जोड़ लें, उसे मार दें तो भी उसी का कल्याण होगा। देहाभिमानी दूसरे देहाभिमानी को मारे तो मारने वाले को भी पाप लगता है और मरने वाले को भी

कर्म फल भोगने पड़ते हैं। किन्तु भगवान् के हाथ से जो मारे जाते हैं, उनसे जो वैर करके भी प्राण त्यागते हैं, वे भी मुक्त हो जाते हैं।''

यह सुनकर बड़े आश्चर्य के साथ महाराज युधिष्ठिर ने पूछा—''भगवन्! यह आप कैसी बातें कह रहे हैं, क्या वैर से भी भगवान् में तन्मयता हो सकती है?''

नारदजी ने कहा—''हो क्या सकती है, होती ही है इस विषय को मैं आगे आपको विस्तार से सुनाऊँगा। आप ध्यानपूर्वक इस गहन विषय को श्रवण करें।''

छप्पय

जाकूँ है अभिमान देहको अतिशय भारी।
मैं अति सुन्दर सुघर सुन्दरी मेरी नारी।।
पाप पुण्यतें करें कर्मवश सुख दुख पावें।
जिनिमहँ नहिँ अभिमान द्वन्द्व तिनिढिँग नहिँ जावें।।
क्रीड़ावश हरि अवतरहिँ, तिनि महिमाको कहि सके।
धरम हेतु सुर रिपु दलन, हिंसा तिनि कस लगि सके।।

युधिष्ठिर नारद संवाद

(४४७)

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।
मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव।।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० १ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

कैसेहू सम्बन्ध कृष्णतें जो जुरि जावे।
काम, द्वेष भय भक्ति प्रेम वश चितफँसि जावे।।
तो होवे कल्याण भयो जगमहँ बहुतनिको।
काम भाव ब्रजवधू थापि पद पायो हरिको।।
भयतें मामा कंस ने, यादवगन सम्बन्ध करि।
शिशुपालादिक द्वेषतें, मुक्त भये हरि हृदय धरि।।

राजा अपनी राज सभा में सुन्दर-से-सुन्दर बहुमूल्य सुगन्धित इत्र लगाकर आता है। उस सभा में उसके मित्र शत्रु सम्बन्धी स्नेही तथा बन्दी आदि जितने बैठे होंगे, सबको सुगन्धित समान सुख मिलेगा। सबकी घ्राणेन्द्रिय उससे तृप्त होगी। राजा में उनका कैसा भी भाव क्यों न हो, किन्तु उसकी सन्निधि में आने पर वे सुगन्धि से वञ्चित न रहेंगे। जो उसकी सन्निधि में नहीं आये उनकी बात दूसरी है। कल्पतरु के नीचे जो भी जायेगा, उसकी ही मनोकामना

✯ *देवर्षि नारदजी, धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् से कैसा भी सम्बन्ध हो जाय कल्याणप्रद ही है। किसी प्रकार से भी मन को श्रीकृष्ण में लगाना चाहिये। ये जो तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्त्र हैं, पहिले ये भगवान् विष्णु के प्रधान पार्षद थे। सनकादि ब्राह्मणों के शाप से ये अपने पद से च्युत हो गये।"*

पूर्ण होगी। जो उससे दूर रहेगा, वह उसके उस गुण से वञ्चित रहेगा। भगवान् आनन्द के स्वरूप हैं, मुक्ति के धाम हैं, सौन्दर्य माधुर्य की राशि हैं। उनमें द्वेष नहीं, अपने पराये का भाव नहीं। उनसे कोई कैसे भी सम्बन्ध रखे मुक्त तो हो ही जायगा। एक आदमी ने अन्नसत्र कोल रखा है जो आता है उसी को खिलाता है। बहुत आकर दाता को गालियाँ देते हैं, कुवाक्य कहते हैं। लड़ने को तत्पर हो जाते हैं। उदारमना दाता उन्हें भी खिलाता है और जो आकर उसकी प्रशंसा करते हैं उनके दान धर्म की बड़ाई करते हैं उन्हें भी खिलाता है। अनन्तर इतना ही है द्वेषियों निन्दकों को केवल भोजन मिलता है और साधु स्वरूप के गुणग्राही सत्पुरुष को भोजन के साथ वह स्नेहरस भी देता है। प्रेम में पगे उस भोजन में और केवल भोजन में अन्तर तो है ही, फिर भी पेट दोनों का ही भर जाता है। धर्मात्मा दाता के द्वार से कोई निराश नहीं लौटता।''

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—''राजन्! देखिये, लोग रागद्वेष तभी तक करते हैं, जब तक कि इन शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सांसारिक असुखकर विषयों में प्रियत्व की बुद्धि हो। एक चाहता है, इस पदार्थ को मैं लूँ, दूसरा चाहता है मैं लूँ, तभी राग द्वेष, ईर्ष्या, लड़ाई कलह युद्ध आदि होते हैं। जिस समय सभी को मनुष्य आत्मारूप में देखने लगता है ऐसे समदर्शी पुरुष को न राग, न द्वेष, न मोह, न शोक। भगवान् का तो इन संसारी पदार्थों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। जो पुरुष संसारी पदार्थों के लिये संसारी पुरुषों से आशा रखकर उनसे सम्बन्ध करते हैं उन्हें तो बार-बार जन्मना पड़ता है और बार-बार मरना पड़ता है, किन्तु जो चाहे जिस भाव से, भगवान् से सम्बन्ध कर लेता है उनमें अपने चित्त को फँसा लेता है तो उसका आवागमन छूट जाता है।''

इस पर धर्मराज ने पूछा—''महाराज, किन-किन कारणों से चित्त किसी में तन्मयता प्राप्त करता है?''

यह सुनकर नारदजी बोले—''राजन्! किसी भी वस्तु में चित्त के तन्मय होने के पाँच ही कारण हैं। एक तो भक्ति भाव से

चित्त भजनीय इष्ट में तन्मय हो जाता है। भक्त जिस समय प्रेमाश्रु बहाता हुआ गद्-गद् कण्ठ से अपने इष्ट की स्तुति करता है, उस समय उसे संसार भूल जाता है, वह बढ़ी हुई भक्ति के कारण भगवान् में ऐसा तदाकार हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी

सुधि नहीं रहती। ऐसी तन्मयता जिन भक्तों को प्राप्त है उसके पादपद्मों में हमारा प्रणाम है। भय से भी तन्मयता होती है। जिसको फाँसी की आज्ञा हो जाती है उसे भय के कारण कुछ भी दिखाई नहीं देता, चित्त सदा सोच में ही पड़ा रहता है। जिन्होंने किसी फाँसी वाले आदमी को देखा होगा वे जानते होंगे कि उसकी दशा में और ब्रह्मज्ञानी की दशा में ऊपर से देखने पर कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता। दोनों संसार से उदासीन से हो जाते हैं। मैत्री में तन्मयता होती है वे बड़भागी हैं जिन्हें कोई हार्दिक प्रेम करने वाला मित्र मिल गया हो। मैत्री में तन्मयता कैसे होती है, यह बिना मित्र प्राप्त किये जानी नहीं जा सकती। यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की बात है। काम से भी तन्मतया होती है। कोई स्त्री किसी पुरुष पर आसक्त हो या कोई पुरुष किसी स्त्री पर आसक्त हो तो फिर इनको संसार में अपने चाहने वाले के अतिरिक्त कोई दिखाई नहीं देता। सोते-जगते उठते-बैठते उसी की चिन्ता रहती है। इस विषय में मैंने एक कहानी सुनी है आप कहें तो सुनाऊँ।''

धर्मराज ने कहा—''भगवन्! दृष्टान्त से विषय स्पष्ट हो जाता है, अत: आप उस कहानी को अवश्य सुनाइये।''

धर्मराज की जिज्ञासा देखकर नारदजी कहने लगे—''राजन्! एक कोई राजा की दासी थी, उसकी किसी पुरुष में अत्यन्त आसक्ति थी। पुरुष राजा का कर्मचारी था। दोनों एक दूसरे को हृदय से चाहते थे। एक दिन वह स्त्री अपने उस जार पति से मिलने संकेतानुसार अरण्य में जा रही थी। मार्ग में एक क्रोधी मुनि भगवान् का ध्यान कर रहे थे। वह कामिनी तो कामवेग के कारण अंधी बनी हुई थी, ध्यानस्थ मुनि के ऊपर पैर रखकर वह ज्यों ही जाने लगी तो मुनि को क्रोध आ गया, दो डण्डे उसको जमा दिये। वह चली गयी। अपने जार पति से मिल मिलाकर फिर वह उधर से लौटी। मुनि ने उसे बुलाकर पूछा—''तू मेरे शरीर पर पैर रखकर क्यों गई थी?''

उसने हाथ जोड़कर नम्रता के साथ कहा—''भगवन्! यह

कितने दिनों की बात है, मुझे तो स्मरण नहीं आता कि मैंने आप के साथ कभी ऐसा अशिष्ट व्यवहार किया हो?''

मुनि ने क्रोध में भरकर कहा—''कैसी बातें कर रही है, कैसी अपने को निर्दोष बता रही है। अभी-अभी की तो बात है तू अंधी हुई जा रही थी। मैं ध्यानमग्न था, जब तेरे पैरों से मेरे शरीर का स्पर्श हुआ तो मुझे बड़ा क्रोध आया। मैं तुझको दो डण्डे भी जमा दिये थे। तुझे इतना भी ध्यान नहीं?''

तब उस कामिनी ने कहा—''प्रभो! सत्य कहती हूँ, मुझे कुछ पता नहीं। भूल से लग गया होगा। उसके लिये मैं क्षमा चाहती हूँ, किन्तु मेरी अशिष्टता क्षमा की जाय तो मैं एक बात कहूँ?''

मुनि ने कहा—''अच्छी बात है कहो, तुम निर्भय हकोर कहो। मैं बुरा न मानूँगा।''

उस कामिनी ने कहा—''नहीं महाराज! बुरा मानने वाली तो कोई बात नहीं। मैं यह कहती हूँ कि आपके उस मिथ्या ध्यान से तो मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ था। आप तो एकान्त में बैठकर आसन लगाकर आँख मींचकर ध्यान में लगे हुए थे, फिर भी मेरे पैरों के स्पर्श से आपका ध्यान भङ्ग हो गया। आपने मुझे पहिचान लिया, यही नहीं दो डण्डे जमा दिये। किन्तु मुझे देखिये, मैं न आँखें मींची, न आसन लगाया, न एक स्थान पर बैठी। दौड़ी जा रही थी आखें खोलकर, भूल से आप पर पैर पड़ गया। आप कहते हैं मैंने दो डण्डे भी मारे, मुझे न आप दिखाई दिये न डण्डों का पता चला। तब तो आपसे अधिक मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ रहा!''

यह सुनकर मुनि लज्जित हुए और बोले—''देवि! सत्य कहती हो, मेरा चित्त भगवान् में तन्मय नहीं था, तुम्हारा चित्त अपने जार पति में तन्मय हो रहा था।''

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—''राजन्! इस प्रकार अत्यन्त काम की आसक्ति में चित्त तन्मय हो जाता है। वह संसारी कामवासना भगवान् में हो जाय, भगवान् को अपना पति, उपपति, जारपति, प्रेमी कुछ भी समझकर स्त्री भाव से जीव चाहने लगे तो

उसके कल्याण में सन्देह नहीं। चार कारण तो ये हुए। पाँचवां सुदृढ़ वैरानुबंध से भी चित्त तन्मय हो जाता है।''

धर्मराज ने आश्चर्य के साथ कहा—''महाराज! वैर से कैसे चित्त तन्मय हो जाता है?''

यह सुनकर नारद जी बड़े जोरों से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—''राजन्! बन्ध्या को प्रसव पीड़ा का अनुभव कैसे कराया जा सकता है। अबोध बालिका को पति गृह के सुख का अनुभव कैसे कराया जा सकता है? महाराज! आप ठहरे अजातशत्रु! आपने किसी से तीव्रता के साथ हृदय से बैर किया ही नहीं। इसलिये आप आश्चर्य कर रहे हैं, किन्तु मैं तो दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि जैसा चित वैरी के प्रति तन्मयता को प्राप्त होता है वैसा न काम से होता है न स्नेह से, न भक्ति से और न भय से। महाराज! अपना प्रबल शत्रु सदा हृदय पटल पर नाचता रहता है। एक भृङ्गी नाम का कीड़ा होता है। वह गीली मिट्टी अपने मुख में ला-ला कर भीत पर एक घर बना लेता है। उस घर में कहीं से भी किसी कीड़े के बच्चे को पकड़कर बन्द कर देता है और उसके आगे गूँजता रहता है। निरन्तर कैद में डालने वाले शत्रु की गूँज सुनकर उस कीड़े के बच्चे को बड़ा उद्वेग होता है। वह निरन्तर उसी शत्रु का स्मरण करता रहता है। स्मरण करते-करते वह कीट भी भृङ्गी बन जाता है, तन्मय हो जाता है। सो, महाराज! वैर से तो बड़ा ही चित्त तन्मय होता है। यदि संसारी किसी व्यक्ति से वैर करोगे तो मरकर उसी के सम्बन्धी बनोगे। पूर्वकृत वैर का बदला लोगे। यदि वही वैर जान में अनजान में भगवान् से हो जाय तो बेड़ा पार है। आवागमन सदा के लिये छूट जायगा। इसलिये महाराज! चित्त! के तन्मय होने के काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्ति ये ही पाँच उपाय हैं। इन भावों से भगवान् में चित्त लगाकर बहुत से लोग इस संसार-सागर को पार कर गये।''

आश्चर्य के साथ धर्मराज ने कहा—''भगवन्! यह तो आपने एक विलक्षण ही सिद्धान्त बता दिया। भगवान् में काम भाव

कैसे रखा जाता है? काम भाव से किसे सिद्धि प्राप्त हुई है?''

इस पर नारदजी ने कहा—''देखिये राजन्! भगवान् श्यामसुन्दर जब वज्र में प्रकट लीला कर रहे थे, तब पहिले कुछ गोपियों का चित्त उनकी ओर काम भाव से ही आकृष्ट हुआ। पहिले पहिल उन्होंने उन्हें एक अत्यन्त रूपवान् अपना परम श्रेष्ठ ही समझा। जब सम्बन्ध हो गया तो वे जान गयीं कि वे केवल गोपिकानन्द ही नहीं है अखिल प्राणियों की अन्तरात्मा में विचरण करने वाले सर्वेश्वर भी हैं। उनका काम भाव किसी संसारी सौन्दर्य युक्त युवक के प्रति होता तो वह पाप होता, बन्धन का कारण माना जाता। किन्तु भाग्यवश वह काम कामारि केशव के प्रति हो गया। अन्धे के हाथों में बटेर लग गई। राजन्! यह तो व्यवहारिक लीला की बात है। वास्तविक बात तो यह है कि गोप-गोपी गौ आदि ये सब तो भगवान् के नित्य सहचर तथा पार्षद हैं। इसीलिये रस-शास्त्र में ब्रजाङ्गनाओं के काम को ही प्रेम कहा गया है।''

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—''भगवन्! भय से कैसे चित्त तन्मय होता है?''

नारदजी ने कहा—''भय से तो मैं कीट भृङ्गी का दृष्टान्त देकर समझा ही चुका। कंस जन्म से पूर्व ही भगवान् से वैर रखता था मुझसे जब उसने सुना कि मेरा शत्रु गोलोक में नन्द के घर बढ़ रहा है तो उसे सोते, जागते, उठते, बैठते, खाते, पीते, चलते, फिरते सर्वत्र कृष्ण का ही ध्यान रहने लगा, कृष्ण मुझे मारेंगे, कृष्ण आ तो नहीं गये, कृष्ण को पकड़कर लाइये, कृष्ण से मेरी कैसे रक्षा हो। उसका कृष्णमय चित्त हो गया। बैरी बनकर वह कृष्ण की आराधना करने लगा। भगवान् की प्रतिज्ञा है जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजन करते हुए उसी रीति से फल देता हूँ। इसीलिये भगवान् ताल ठोककर उसके सम्मुख आ गये और उसे अपने श्रीहस्तों से मारकर मुक्त कर दिया?''

धर्मराज ने पूछा—''भगवन्! द्वेष से भगवान् का चिन्तन कैसे किया जाता है?''

हँसकर नारदजी बोले—"महाराज! प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता। यह तो शिशुपाल के वध के समय सभी ने प्रत्यक्ष देख लिया कि शिशुपाल के शरीर से ज्योति निकलकर इन सर्वान्तर्यामी प्रभु के शरीर में समा गई। यह शिशुपाल जन्म से ही भगवान् से द्वेष करता था। इसी प्रकार दन्तवक्र भी। आपके तो ये दोनों मौसेरे भाई ही थे। श्रीकृष्ण की बुआओं के ये लड़के थे, किन्तु पूर्वजन्म के संस्कार के कारण भगवान् से जन्म लेते ही द्वेष करने लगे। संसारी राजाओं से करते तो मरकर फिर राजा होते, उन्होंने द्वेष किया इन भवभयहारी बनवारी के साथ। अत: ये दोनों मरकर मुक्त हो गये और भी बहुत से राजा भगवान् से द्वेष करके ही मुक्ति के अधिकारी हुए।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! भगवान् में सम्बन्ध कैसा किया जाता है?"

नारदजी ने कहा—"जैसे संसारी लोगों से किया जाता है। ये मेरे पिता हैं, चाचा हैं, ताऊ हैं, बाबा, परबाबा हैं, भाई हैं, भतीजे हैं, पुत्र हैं, मामा हैं, भांजे हैं, फूफा हैं जीजी हैं। ये सब सम्बन्ध इन मायिक प्राणियों में करोगे, बन्धन बढ़ेगा, भगवान् में करोगे मुक्त हो जाओगे। समस्त यादव मुक्ति के अधिकारी हैं, क्योंकि अनजान में भी ये श्रीकृष्ण को अपना सगा सम्बन्धी समझते हैं।'

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! मित्रता से भगवान् में कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है?"

यह सुनकर नारदजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"राजन्! रसगुल्ला तो स्वयं खाते हो और स्वाद मुझसे पूछते हो, ये जो सम्मुख पीताम्बरधारी बनवारी बैठे हैं उन्हें तुम साक्षात् भगवान् समझते तो एक सङ्गमरमर का सुन्दर मन्दिर बनाकर इनकी सदा पूजा ही करते रहते। इनसे रथ न हँकवाते, दूत न बनाते। सेवकाई न कराते, इनसे घुल-घुलकर बातें न करते, पैर न छुआते। इन्हें आप अपना मित्र, सुहृद, सखा, हितैषी सर्वस्व समझते हैं। उसी का तो यह फल है कि आपका घर परम पावन तीर्थ बन गया

है। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि आपके आँगन की धूलि लेने के लिये यहाँ सदा आते रहते हैं। घनचक्कर की भाँति जो मैं यहाँ चक्कर काटता रहता हूँ, केवल तुम्हारी सुम्वादु सामग्रियों तथा हलुआ उड़ाने के ही निमित्त नहीं आता। इन वासुदेव की चरणधूलि से अपने अङ्ग को पावन करने आता हूँ। सो, राजन्! आप लोग धन्य हैं जो सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव को अपना सुहृद, सखा, मित्र मानते हैं।''

इस पर नम्रता के साथ हाथ जोड़कर धर्मराज ने कहा—

''भगवन्! यह सब आप गुरुजनों के चरणों की कृपा का फल है। हम लोग इस योग्य थोड़े ही हैं कि भगवान् वासुदेव से मित्रता कर सकें। भगवान् ने ही कृपा करके हमें अपना रक्खा है। हाँ, भक्ति से भगवान् की कैसी आराधना की जाती है?''

इस पर नारदजी ने संकोच के साथ कहा—''अब भक्ति की क्या बताऊँ।'' ये सब ऋषि मुनि बैठे हैं। भगवान् को भक्ति भाव से ही पूजते हैं। मैं जो वीणा लेकर निरन्तर राम कृष्ण राम कृष्ण हरि की रट लगाता रहता हूँ इसलिये मुझे भी लोग भक्त कहने लगे हैं। वैसे मुझमें भक्ति-फक्ति तो कुछ है नहीं। ये ही श्यामसुन्दर सहारा दें—ये ही अभक्त समझकर भी भक्त वेष देखकर ही अपना लें—तो दूसरी बात है।

आपने जो महाराज वेन का दृष्टान्त दिया, सो राजन्! वेन का भगवान् से न द्वेष था न प्रेम। वह तो अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता था। उसकी सर्वश्रेष्ठता में बाधक थे ब्राह्मण। वह सोचता था—''समाज पर इन ब्राह्मणों का ही अधिकार है, इन्हें नष्ट कर दे तो सब लोग हमें श्रेष्ठ कहने लगें। भगवान् के प्रति तो उसकी उपेक्षा बुद्धि थी। क्योंकि वे सब किसी को इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते। उसका द्वेष ब्राह्मणों से था। इसीलिये ब्रह्मशाप से मरकर नरक में गया। जब उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध हो गया, पृथु भगवान् ने उसे अपना पिता मान लिया तो उसका उद्धार हो गया, वह मरकर यातनाओं से मुक्त हो गया। इसीलिये महाराज!

जैसे बने तैसे भगवान् में प्रेम करना चाहिये। इस चञ्चल चित्त को उनमें जोड़ देना चाहिये। संसार में सब वस्तुएँ सबको प्राप्त नहीं। जिनके पुत्र न हो, वह भगवान् को अपना पुत्र मानकर लाड़ लड़ावें, उन्हें पुत्र की भाँति प्यार करें। जिनका कोई स्वामी न तो भगवान् को स्वामी मानकर सेवा करें। जिनके गुरु न हो भगवान् को गुरुदेव मानकर पूजे। जिनका मनोनुकूल पति न हो वे भगवान् को ही पति मानकर पति का-सा ही सब सम्बन्ध रखें उन्हें ही अपने हाव-भाव कटाक्ष और श्रङ्गार से रिझावें। जिनके मित्र न हो, वह भगवान् से ही मित्रता स्थापित कर लें, जिनके शत्रु न हो भगवान् को ही शत्रु बना लें। सारांश किसी भी प्रकार मन को कृष्ण में लगा देना चाहिये। उसका पल्ला इन परात्पर को पकड़ा देना चाहिये। इनके साथ गठबन्धन कर लेना चाहिये। राजन्! ये दन्तवक और शिशुपाल कोई और नहीं है। भगवान् के नित्य पार्षद जय विजय ने ही सनकादिकों के शाप से पृथ्वी पर जन्म लिया था। अन्त में भगवान् के हाथों से मरकर ये मुक्त हो गये। ये पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित हो गये।''

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—''महाराज! जय-विजय को शाप क्यों हुआ? सनकादि इतने त्यागी तपस्वी माया के गुणों से रहित मुनियों को क्रोध क्यों आया। इस प्रसङ्ग को आप मुझे सुनावें।।''

सूतजी कहते हैं—''मुनियो! धर्मराज के पूछने पर देवर्षि नारदजी ने जय-विजय के शाप की समस्त कथा सुनाई। महाराज! हिरण्याक्ष के वध प्रसङ्ग में उस कथा को मैं सुना ही आया हूँ। फिर भी अब हिरण्यकशिपु का वृत्तान्त कहना है, अतः फिर भी स्मरणार्थ अत्यन्त संक्षेप में उस कथा का संकेत करूँगा। क्योंकि प्रसङ्गानुसार कहनी पड़ती है, नहीं तो विषय अधूरा रह जायगा। आप इसे पुनरुक्ति दोष न समझें।''

यह सुनकर शौनकजी बोले—''सूतजी! साहित्य में तो पुनरुक्ति दोष होता है, किन्तु भागवती कथाओं में पुनरुक्ति दोष

नामक कोई वस्तु नहीं। उसमें तो एक ही बात को हजारों बार कहा जाता है। एक ही तो बात है अवतार चरित, उसी को कहना है आप नि:संकोच कहें।'' शौनकजी की यह बात सुनकर सूतजी जय विजय के प्रसङ्ग को पुन: अत्यन्त संक्षेप से कहने को प्रस्तुत हुए।''

छप्पय

धर्मराज तुम धन्य धन्य तुमरे पितु माता।
बने सुहृद् घनश्याम तुम्हारे जे भयत्राता।।
हरि शोभाके धाम मङ्गलनिके मङ्गल हैं।
उनमहँ जिनको चित्त फँस्यो तिनके मङ्गल हैं।।
दन्तवक्र शिशुपाल हरि, करतें मरि हरिपुर गये।
प्रभु पार्षद जय विजय जे, विप्र शापवश खल भये।।

जय विजय के शाप का कारण

(४४८)

कीदृशः कश्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० १ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

कहें युधिष्ठिर—नाथ! शापकी बात बताओ।
प्रभु पार्षद जय विजय असुर कस भये बताओ।।
बोले नारद—प्रभो! गये हरिपुर सनकादिक।
गदा बेंत लै खड़े द्वारके दोनों पालक।।
नंग धड़ंगे बाल लखि, रोके हरि दरसननितें।
शाप दयो सुररिपु बनो, ये डरि बोले मुनिनितें।।

पिता को जब पुत्र से खेल करने की इच्छा होती है। तब वह उससे लड़ता है। छोटा बच्चा पिता से क्या लड़ेगा, किन्तु खेल ही जो ठहरा। पिता लड़ने का अभिनय करता है, बच्चा भी शक्ति भर बल लगाता है। फिर पिता अपने आप ही गिर पड़ता है और बनावटी आश्चर्य से कहता है—"अरे भाई! तू तो बड़ा बली है, मुझे पछाड़ दिया।" बच्चा सब समझता है, पिता स्वयं ही गिरा है। फिर भी प्रसन्न ही होता है क्योंकि पिता की प्रसन्नता में उसकी प्रसन्नता निहित है। भगवान् के अवतार लेने के अनेक प्रयोजन

✯ *धर्मराज युधिष्ठिर नारदजी से पूछते हैं—"भगवन् ! भगवान् के भक्तों का भी तिरस्कार करने वाला यह शाप किसका था और जय विजय को वह कैसे लगा? जो भगवान् के एकान्त भक्त हैं उनका पुनः संसार में जन्म लेना तो कुछ अविश्वासनीय-सा जान पड़ता है।"*

बताये गये हैं, किन्तु हम तो उनके अवतार का एकमात्र प्रयोजन यही समझते हैं कि अपने भक्तों को अपनी क्रीड़ा से सुख देना। भगवान् भक्तों को निमित्त बनाकर नाटक रचते हैं। सब पात्र उनके ही अधीन हैं। कौन-सा नाटक करना है यह भी वे सब जानते हैं, कौन-सा पात्र कौन-सा अभिनय कब करेगा, इन सब बातों का उन्हें परिज्ञान हैं। फिर भी जब वे वेष बनाकर रङ्गमञ्च पर उतरते हैं तो अपने ही जनों से अपने ही सिखाये पढ़ाये पात्रों से क्रोध करते हैं, युद्ध करते हैं प्यार करते हैं। इसी का नाम है भगवन्तलीला। इसी को अवतार चरित कहते हैं। इसी के पुनः-पुनः श्रवण करने से भव बन्धन कटता है।

श्रीनारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! आपके जय विजय के शाप की बात मुझसे पूछी थी, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक दिन की बात है कि ब्रह्माजी के सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार ये चारों मानस मुनि नंगे-धड़ंगे अनेकों लोकों में विचरते टहलते, घूमते-फिरते भगवान् विष्णुजी के वैकुण्ठधाम में पहुँच गये। इनकी तो सर्वत्र अव्याहत गति थी। भगवान् बैकुण्ठनाथ के दिव्य भवन में सात ड्योढ़ियाँ लगी हुई थीं। छै ड्योढ़ियों को ये पार कर गये, सातवीं पर जब ये पहुँचे तो वहाँ के प्रधान द्वारपाल जय विजय इन्हें भीतर जाते देखकर—ललकार कर बोले—"सावधान! सावधान! ओ बच्चो! भीतर मत जाओ!"

ये बच्चे तो थे नहीं, इनकी दाढ़ी बाहर न निकलकर पेट की ओर बढ़ी थी, ये तो पूर्वजों के भी पूर्वज थे। इन कल के छोकड़ों के मुख से अपने को बच्चा सुनकर मन में बुरा तो लगा फिर भी बिना कुछ कहे इनकी अवहेलना करके वे बढ़ते ही गये। वे इनके ऐसे उपेक्षा भाव को देखकर बोले—"बच्चों! तुम नहीं मानोगे?"

"हाँ नहीं मानेंगे" ते तड़ाक से बोले।

उन्होंने पड़ाक से बेंत को फटकारा और द्वार रोककर खड़े हो गये और बोले—"अच्छा, देखें कैसे भीतर जाते हो?"

अब काम का छोटा भाई क्रोध मुनियों के ऊपर सवार हो गया 'वहाँ बैकुण्ठ में वह कैसे पहुँच गया' बस, यही पूछकर गड़बड़-सड़बड़ मत करो। क्रोध की भगवान् के बिना सत्ता ही नहीं। अधर्म तो भगवान् की पीठ से ही उत्पन्न होता है। भगवान् की इच्छा हुई आ गया। अब तो मुनियों ने कहा—"जाओ तुम दोनों पापमयी आसुरी योनि को प्राप्त हो जाओ।"

"क्यों महाराज?" अब तो उनकी वाणी में मृदुता थी 'भय बिनु होहि न प्रीति।'

"क्योंकि तुम रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हो, भगवान् के लोक में रहने के योग्य नहीं हो। देखो, अब बच्चों की शक्ति, अभी औंधे मुँह से गिरते हो।" व्यङ्ग की हँसी-हँसते हुए कुमार बोले।

अझी महाराज, दया करो! हम तो आपके बच्चे हैं।" अब आई बुद्धि ठिकाने "सभी चमत्कार को नमस्कार करते हैं।" हँस पड़े कुमार।

"दया करो प्रभो! हमने आपको जाना नहीं, आपके स्वरूप को पहिचाना नहीं। आपका वचन माना नहीं। सदा हमें आसुरी योनि में ही न रहना पड़े।" दोनों गिड़गिड़ाकर कुमारों के कोमल पैरों पर पड़ गये।

साधु का क्रोध पानी की लकीर के समान होता है, आया उसी क्षण समाप्त हो गया। कुमार बोले—"अरे, भाई! वचन तो हमारा मिथ्या होगा नहीं, किन्तु तीन जन्मों तक आसुरी भाव को भोगकर तुम फिर भगवान् के लोक में आ जाओगे।"

"तो क्या हम तीनों जन्मों में भगवान् से पृथक् रहेंगे?" पैरों पर पड़े-पड़े जय विजय बोले।

कुमार हँस पड़े और कहने लगे—"अरे, भैया! तुम भगवान् से पृथक् होना भी चाहो तो नहीं हो सकते। तीनों जन्मों में भगवान् ही तुम्हें मारेंगे। तीसरे जन्म में जब पीताम्बरधारी बनवारी तुम्हारा संहार कर देंगे, तब तुम आसुरी भाव से मुक्त हो जाओगे।"

प्रसन्न होकर दोनों पैरों पर से उठ पड़े, फिर दंडवत् प्रणाम की और बोले—"तब कोई चिन्ता नहीं। भगवान् मारेंगे तब तो भगवान् से सम्बन्ध रहेगा। द्वेष से ही सही, उनका निरन्तर शत्रु भाव से स्मरण तो बना रहेगा। यहाँ चिरकाल से पहरेदारी करते-करते हम भी ऊब गये थे। अब दो-दो हाथ भगवान् से ही सही। संकोच तो सम्बन्ध से ही होता है। द्वारपाल होकर तो स्वामी से लड़ नहीं सकते। जब वे हमारी बनमाला शङ्ख चक्र पद्म और गदा आदि को छीनकर काला मुँह करके असुर बना देंगे, तब हम भी अपनी कुश्ती की कला दिखावेंगे। आपकी कृपा से जलवायु का परिवर्तन हो जायगा। संसार देखने को मिलेगा। अपने स्वामी के विचित्र अवतारों के दर्शन करेंगे। यहाँ तो हम सदा श्रीमती लक्ष्मीजी से पैर दबवाते हुए ही दर्शन करते हैं। कुछ मार धाड़ हो, लड़ाई-भिड़ाई हो, खटाखट, चटापट, झटापट, सटापट, पटापट हो। उधर से वे मारें इधर से हम, हमारी पटका पटकी, झटका झटकी हो, कुछ आनन्द आवे। अच्छी बात है महाराज! गिरते हैं हम।" यह कहकर अड़ड़ड़ड़ धम, अड़ड़ड़ड़ धम करके दोनों गिर परे बैकुण्ठ लोक से।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरजी से कह रहे हैं—"राजन्! वे ही जय विजय भगवान् कश्यप के अमोघ वीर्य से दिति देवी के गर्भ से हिरण्यकशिपु, और हिरण्याक्ष नाम से प्रसिद्ध हुए, जो दैत्यों

दानवों के प्रथम पूर्वज और प्रताप शाली राजा थे। उनमें से हिरण्याक्ष को तो भगवान् ने शूकर रूप रखकर पछाड़ा और हिरण्यकशिपु को विकराल नृसिंह रूप बनाकर मारा। फिर वे ही दोनों भगवान् पुलस्त्य के पुत्र विश्रम की स्त्री केशिनी के गर्भ से रावण और कुम्भकर्ण रूप में प्रकट हुए, जिन्हें अवधकुल मण्डन, कौशल्यानन्दवर्धन दशरथनन्दन, मैथिली हृदय सर्वस्व श्री राघवेन्दु ने युद्ध में मारा था। फिर तीसरे जन्म में वे ही भगवान् की दो बुआओं के यहाँ, दो मौसियों के यहाँ पृथक् पृथक् शिशुपाल और दन्तवक्र के नाम से उत्पन्न हुए। इस जन्म में वे भगवान् के हाथ भरकर मुक्त हो गये। वैर भाव से ही सही ये निरन्तर करते तो भगवान् का ही ध्यान थे। जो जिसका ध्यान करेगा उसी के रूप का हो जायगा। इसलिये ये भगवान् अच्युत के स्वरूप को प्राप्त होकर उनके समीप चले गये। श्रीरामावतार की कथा आप महामुनि मार्कण्डेयजी के मुख से श्रवण करोगे।''

इस पर धर्मराज ने कहा—''महाराज! श्री चामचरित्र को तो मैं मार्कण्डेय मुनि से सुन लूँगा और सूकरावतार की कथा इन्हीं भगवान् से सुन लूँगा। किन्तु नृसिंह की कथा तो आप ही मुझे सुना दें। कहीं भगवान् से मैंने सुनी और फिर इन्होंने भूल से ही रूप धारण कर लिया तो यहाँ सब गोविन्दाय नमो नमः हो जायँगे। भगवान् ने नृसिंह रूप किस निमित्त से धारण किया?''

इस पर नारदजी कहने लगे—''राजन्! हम आपको बता तो चुके, भगवान् के सभी अवतार भक्तों को सुख देने को होते हैं। जब इन्हें असुर राजा हिरण्याक्ष पाताल में ले गया तो ये उसे मारकर धरादेवी को अपनी दाढ़ों पर बिठाकर ऊपर ले आये। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने छोटे पुत्र प्रह्लाद से बहुत द्वेष करता था। उसे मार डालना चाहता था। उसे मारने से उसने बड़े-बड़े उपाय

किये। इसी पर भगवान् को क्रोध आ गया और अत्यन्त भयानक नृसिंह रूप बनाकर खम्भ फाड़कर तड़ाक से उससे निकल पड़े। खम्भ के बेटा बन गये। चैतन्य के पुत्र तो सभी बनते हैं, भगवान् भक्त के लिये जड़ के पुत्र बन गये।''

इस पर धर्मराज ने कहा—''भगवन्! माता-पिता का पुत्रों पर प्राणों से भी अधिक ममत्व होता है। पुत्र चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, माता-पिता उससे प्यार ही करते हैं, उसका भला ही चाहते हैं। फिर छोटे पुत्र पर तो विशेष स्नेह होता है। ऐसा कौन-सा कारण हो गया कि पिता पुत्र में इतना द्वेष बढ़ गया कि मारने तक की नौबत आई और बाप बेटे की लड़ाई में रघवा को बधवा बनना पड़ा। खिले हुए शारदीय कमल के समान मनोहर मुख को भयंकर दाढ़ों और बड़ी-बड़ी मूँछों से सजाना पड़ा, इस चरित्र को सुनने के लिये मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है। इसे आप अवश्य सुनावें।''

सूतजी कहते हैं—''मुनियो! महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर नारदजी ने जैसे उत्तर दिया था उसे मैं उसी प्रकार आपको सुनाऊँगा जिस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने महाराज परीक्षित् को सुनाया था। आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।''

छप्पय

विप्र! रहें कब तलक असुर तन समय बताओ।
मुनि बोले-फिरि यहाँ तीनि जन्मनिमहँ आओ।।
हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये ते प्रथम जनममहँ।
नरहरि अरु वाराह हने दोऊ तिनि रनमहँ।।
कुम्भकरन रावन बने, राम हाथ मारे गये।
दन्तवक्र शिशुपाल पुनि, हरि हाथनि मरि सुर भये।।

भाई के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु का श्रीहरि पर क्रोध

(४४९)

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद् रुषा शुचा।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० १ श्लो०)

छप्पय

नारद बोले—नृपति! चरित नरसिंह सुनाऊँ।
हिरनकशिपु जस हन्यो भक्त महिमा अब गाऊँ।।
सूकर बनि लघु बन्धु हन्यो बड़ भयो दुखारी।
विष्णु हमारो शत्रु असुर कुलको संहारी।।
मारूँ पहिले विष्णुकूँ, तब देवनिकूँ वश करूँ।
करिके विष्णु विहीन जग, असुर वंशको दुख हरूँ।।

अपने तथा अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेष भाव रखने वाले के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक ही है। मातृ, पितृ, भातृ तथा सम्बन्धियों के हिंसक के प्रति हिंसा के भाव प्राय: सभी के हृदय में उठते हैं, जिसके नहीं उठते वे या तो जड़ हैं या जीवन मुक्त हैं। यदि एक अनुपकार करता है तो उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी के साथ द्वेष हो जाता है। भगवान् परशुरामजी के पिता जमदग्नि का सिर हैहय वंश के क्षत्रियों ने काटा था, इस पर क्रुद्ध होकर

✯ *नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब सूकर रूपधारी भगवान् ने हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला, तब वह क्रोध और सोच के कारण अत्यन्त सन्तप्त हुआ।"*

परशुरामजी ने पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों के विनाश की प्रतिज्ञा की और घूम-घूमकर २१ बार क्षत्रियकुल का संहार किया। जब ऋषि-मुनियों तक में प्रतिहिंसा के भाव होते हैं, तब असुरों में हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

महाराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! आपने मुझसे पूछा था कि हिरण्यकशिपु ने अपने सगे और सुपुत्र प्रहलादजी से द्वेष क्यों किया। इस विषय में पहिले मैं आप को हिरण्यकशिपु का चरित्र सुनाऊँगा। तदनन्दर प्रह्लादजी का स्वभाव बताऊँगा। दोनों के प्रतिकूल भाव होने से कैसे भगवान् ने नरहरि रूप धारण करके अपने आश्रित भक्त की रक्षा की इस परम पवित्र आख्यान को अत्यन्त सरसता और मनोरञ्जकता के सहित सुनाऊँगा। अब आप आरम्भ से ही इस चरित्र को सुनिये।"

भगवान् ने सूकरावतार धारण करके जैसे धरणी का उद्धार किया और उस अवसर पर जिस प्रकार हिरण्याक्ष का वध किया था यह प्रसङ्ग तो आप सुन चुके होंगे। जब देवताओं के हित के निमित्त सूकर रूपधारी विष्णु ने हिरण्यकशिपु के छोटे भाई को मार डाला तो यह सुनकर महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त ही कुपित हुआ। एक तो उसे अपने आज्ञाकारी प्यारे भाई के मारे जाने का दु:ख था, दूसरे विष्णु भगवान् देवताओं के साथ पक्षपात करते हैं इसका शोक था। इस कारण वह दाँतों को पीसता हुआ तथा दाँतों से ओठों को काटता हुआ, क्रोधाग्नि से जलता हुआ सभी असुरों को सुनाकर भरी सभा में बोलने को खड़ा हो गया। क्रोध के कारण वह काँप रहा था। मुख से स्पष्ट शब्दों का उच्चारण नहीं होता, उसकी दोनों भृकुटियाँ टेढ़ी हो रही थीं। नेत्र लाल-लाल हो रहे थे, कराल दाढ़ों को निकालने से उसका अति भयंकर मुख बड़ा ही भयानक और दुर्धर्ष हो रहा था। रोष में भरकर त्रिशूल को घुमाता

हुआ वह सबको सम्बोधन करके बोला—"द्विमूर्द्धा!"

द्विमूर्द्धा ने उठकर नम्रता के साथ कहा—"जी प्रभो! मैं उपस्थित हूँ, मेरे लिये जो आज्ञा हो?" तब वह बोला—ऋक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव कहाँ हैं? इतना सुनते ही वे चारों खड़े हो गये और बोले—प्रभो! हम भी उपस्थित हैं, जो आज्ञा हो?"

तब वह बोला—"नमुचि, पाक, इल्वलागज, विप्रचित, पुलोमा और शकुनि को भी बुला लो। जितने प्रधान-प्रधान दैत्य दानव हैं वे सब भी सावधान होकर मेरी बात सुनें। जो मैं कहता हूँ उसे अव्यग्र भाव से श्रवण करके उसके अनुसार कार्य करें।" सबने हाथ जोड़कर कहा—"हाँ अन्नदाता! हम तो सेवा में सदा समुपस्थित ही हैं। हमें जो भी आज्ञा मिलेगा उसका उसी समय पालन करेंगे।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तो तुम सबको विदित ही है कि मेरे प्राणों से भी प्यारे भाई को इस विष्णु ने सूअर का रूप रखकर मार डाला है।"

हाथ जोड़कर शम्बरासुर ने कहा—"हाँ, प्रभो यह तो बड़ा अन्याय हुआ। छोटे महाराज को छल से सूअर रूपधारी विष्णु ने मारा है।"

इस पर क्रोध से ओठों को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"छल से मारा हो या बल से। हम कहते हैं, विष्णु का उसने क्या बिगाड़ा था। हम तो सदा से सुनते आये हैं कि विष्णु तो समदर्शी हैं, उसके लिये जैसे ही सुर वैसे ही असुर। अन्तर इतना ही है कि सुर सदा उसके सामने हाथ जोड़कर घिघिआते रहते हैं, उसकी लल्लो चप्पो में लगे रहते हैं। हम लो उससे सम्बन्ध नहीं रखते। उसके सामने घुटने नहीं टेकते। दाँत नहीं गिड़गिड़ाते, उसकी प्रशंसा के पुल नहीं बाँधते इसी से वह हमसे चिढ़ा रहता है।

अपनी प्रशंसा संसारी लोगों को प्रिय होती है। प्रतीत होता है, वह भी आत्मश्लाघा हो गया है। वह भी मिथ्या प्रशंसा वचनों को सुनकर फूलकर कुप्पा हो गया है। हम तो सुनते थे विष्णु शुद्ध स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप को किसी से राग-द्वेष कैसे हो सकता है? प्रतीत होता है, विष्णु ने अपना स्वभाव त्याग दिया। अब वह भी पक्षपाती बन गया। अब प्रतीत होता है वह भी बच्चों की तरह अस्थिर चित्त हो गया। बालकों के समान बन गया कि जिसने फल दिखा दिया, माला पहिना दी, मिठाई का लालच दिया उसी की ही गोदी में चला गया। अब वह अपनी मर्यादा से च्युत हो गया है। अतः मैं इसी त्रिशूल से उसके सिर को काट कर उसमें से जो उष्ण रक्त निकलेगा, उसी के द्वारा अपने परम प्यारे सहोदर बन्धु का तर्पण करूँगा। उस रक्त को पान करके मेरा परलोकगत बन्धु अत्यन्त सन्तुष्ट होगा।''

इस पर नमुचि ने कहा—''प्रभो! हमारे मुख्य शत्रु तो देवता हैं। पहिले उन्हें ही मारना चाहिये। तदनन्तर विष्णु पर चढ़ाई करनी चाहिये।''

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बोला—''अरे, तुम समझते नहीं। अरे, भाई बात यह है कि देवता तो हैं नपुंसक। उनमें तो कुछ बल पौरुष है नहीं। ये तो प्रसिद्ध भगोड़े जगत् विख्यात है। मेरे भाई को ही देखकर इन्द्र शची के भवन में चूड़ी पहिनकर बैठ गया। इन सबको एकमात्र विष्णु का ही बल है। विष्णु ही इनके साहस और उत्साह का मुख्य कारण है। अतः पहिले मूल का उच्छेदन कर देना चाहिये, पहिले जड़ ही काट देनी चाहिये। जड़ के कट जाने पर, पत्ता, पुष्प शाखा आदि तो अपने आप गिर पड़ेंगे जैसे घर की नींव को खोद दो तो पूरा घर गिर पड़ेगा, उसी प्रकार विष्णु को मार देने पर ये सब देवता भी निस्तेज और श्री हीन हो जायँगे।''

इस पर असुरों ने कहा—"हे असुरेन्द्र! शत्रु के मारने के पूर्व उसे दुर्बल बना लेना चाहिये। दुर्बल शत्रु शीघ्र ही मारा जा सकता है।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तुम लोगों की सम्मति सर्वथा सत्य है। विष्णु का मूल है यज्ञ। यज्ञ को विष्णु ही कहा है। यज्ञ होते हैं वेद, ब्राह्मण और गौओं की सहायता से। जहाँ धर्म हैं वहाँ विष्णु हैं, क्योंकि उन यज्ञ स्वरूप पुराण पुरुष का यथार्थ रूप तो धर्म ही है। धर्म के आश्रय पर ही ये देवता, पितर, ऋषि, मुनि तथा पञ्चभूत आदि सभी स्थित हैं। इसलिये पहिले इन्हें नष्ट करो। इनके नष्ट होने से विष्णु निर्बल बन जायगा। जब यज्ञादिक ही न होंगे तो विष्णु को यज्ञ भाग भी न मिलेगा। यज्ञ भाग न मिलने से वह निर्बल हो जायगा। अतः जहाँ यज्ञ होते हों, उन देशों को जला दो। ब्राह्मणों को मार कर यमपुर पहुँचा दो। उनके रक्त का तुम सब पान करो। गौओं को मार दो। ब्राह्मणों के पेट फाड़ दो।"

हिरण्यकशिपु की यह आज्ञा क्या हुई मानों असुरों को निधि मिल गई। वे तो मार काट और हिंसा तथा क्रूरता के लिये उधार खाये ही बैठे रहते थे। उन्हें तो जीवों को मारने में हिंसा आदि करने में बड़ा आनन्द आता था, बस फिर क्या था, सभी ने अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये और पृथ्वी में घूम-घूमकर ब्राह्मणों को सताने लगे। घरों में आग लगा देने लगे। धर्म के विरुद्ध जो भी कुछ कर सकते थे करने लगे। ग्रामों में चले जाते उन्हें जला देते, नगरों को नष्ट कर देते। ब्रज, उद्यान, क्षेत्र, बगीचे, आश्रम, खान, खेट, खर्बट, घोष तथा नगरों को स्वाहा करने लगे। कुल्हाड़ी से फलों वाले वृक्षों को काटने लगे। कुदाली से सेतु, परकोटा, नगर द्वार तथा महलों को खोदने लगे। बड़ी-बड़ी राजधानियों को अग्नि लगाकर स्वाहा करने लगे।

नारदजी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार जब हिरण्यकशिपु के दैत्यों ने पृथ्वी पर जाकर यज्ञयागों को बन्द कर दिया तो देवताओं को कोई हवि ही न देता। वे भूख के कारण यज्ञ भाग से वञ्चित होकर साधारण मनुष्य जैसे पृथ्वी पर घूमते हैं, वैसे ही घूमने लगे। स्वर्ग पर हिरण्यकशिपु का अधिकार ही हो गया। वहाँ भूखे देवता क्या करें? अत: वे अपना वेष बदलकर विपत्ति के दिनों को कष्ट से काटने लगे।"

छप्पय

हे शम्बर! हे नमुचि! शकुनि सब मिलिकें जाओ।
वेद विप्र गौ यज्ञ अवनितें जाइ मिटाओ।।
यज्ञ रूप हैं विष्णु, देवता यज्ञ सहारे।
विष्णु यज्ञ मिटि जाँइ देव का करें विचारे।।
दुर्बल देवनि पक्ष लै, विष्णु कपट सूअर बन्यो।
समदर्शीने छल सहित, सुहृद सहोदर मम हन्यो।।

हिरण्यकशिपु का अपने सम्बन्धियों को धैर्य देना

(४५०)

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।
रिपोरभिमुखे श्लाध्यः शूराणां वध ईप्सितः।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० २० श्लोक)

छप्पय

अनुशासन सुनि असुर अवनि पै मिलि सब आये।
सब वर्णाश्रम धर्म यज्ञ यागादि मिटाये।।
भये देव अति दुखित यज्ञ आहुति बिनु पाये।
हिरण्यकशिपु इत मातु बन्धुसुत पास बिठाये।।
दई सान्त्वना सबनिकूँ, शोक मग्न जे अति भये।
यह झूठो संसार सब, उदाहरन बहुतक दये।।

जब हमारा कोई सगा सम्बन्धी मरता है तो हम रोते हैं, दुखी होते हैं। जब हमारे किसी सम्बन्धी का सम्बन्धी मरता है तो हम उसे समझते हैं, संसार को अनित्य बताते हैं, शोक करने को व्यर्थ बताते हैं। यह प्रथा सनातन है। स्वयं के समय रोवेंगे। किन्तु दूसरे को समझाने के समय उसी रुदन की निन्दा करेंगे अर्जुन को समझाते समय तो भगवान् ने कैसा ज्ञान दिया, किन्तु जब उनके ससुर मर गये तो—लोक दिखावे को ही सही—वे भी पीताम्बर से

✯ *हिरण्याक्ष के मारे जाने पर हिरण्यकंशिपु सबको समझाते हुए कह रहा है। अपनी माता दिति, हिरण्याक्ष की स्त्री और उनके बच्चों को सम्बोधन करके उसने कहा—"माताजी ! ओ बहू ! और देखो बेटा ! तुम भी सुनो। शूरवीरों को शत्रु के सम्मुख युद्ध में शरीर त्यागना परम श्लाघनीय और प्रंशसनीय है अतः तुम्हें मेरे उस शूरवीर भाई के सम्बन्ध में तनिक भी शोक न करना चाहिये।"*

अपने आँसुओं को पोंछकर सिसकियाँ भरने लगे। यह लोकाचार है। रोने के समय रोना और समझाने के समय शोक करने को व्यर्थ बताना।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपने छोटे भाई हिरण्याक्ष को अत्यन्त ही प्यार करता था। जब उसे वाराह भगवान् ने मार डाला तो उसे देवताओं पर और विष्णु भगवान् पर अत्यन्त क्रोध आया। उसी क्रोध में भरकर उसने असुरों को अवनि पर वैदिक धर्म के नाश करने के निमित्त भेजा। असुरों ने जाकर ऐसा ही किया। देवता निर्बल बन गये। अब स्वयं भी उसने विष्णु भगवान् से बदला लेने का उद्योग किया। बिना शक्ति संचय किये, बिना अजर अमर और रण में अजेय बने विष्णु जीते नहीं जा सकते। इसलिये उसने तपस्या करने का निश्चय किया। क्योंकि तपस्या के बिना शक्ति बढ़ती नहीं।

तपस्या को जाने के पूर्व जो हिरण्याक्ष के वध से दुखी उसकी माता थी, हिरण्याक्ष की बहू थी तथा उसके पुत्र थे, उन्हें सान्त्वना देना, समझाना बुझाना आवश्यक था। इतने वीर पराक्रमी के शोक से सभी परिवार वाले अत्यन्त दुखी थे। रो रहे थे। अत: उन सबको उसने अपने समीप बुलाया। दिति अपने छोटे पुत्र के शोक से सन्तप्त थी, हिरण्याक्ष की बहू विधवा हो जाने के कारण अत्यन्त दुखी थी। उसके शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्म, उत्कच आदि पुत्र पिता के मर जाने से अत्यन्त चिन्तित और उदास हो रहे थे। हिरण्यकशिपु ने सबको समीप बिठाकर मधुर वचनों में सान्त्वना दी और समझाते हुए कहने लगा। पहिले उसने अपनी माँ दिति से ही कहा—"अम्मा! देख, हिरण्याक्ष सोच करने योग्य तेरा पुत्र नहीं है। संसार में शोचनीय तो वह होता है, जो शूकर कूकर की भाँति पैदा हुआ, न

यश कमाया न धर्म किया पशु-पक्षियों की भाँति आहार विहार में दिन बिताकर कुत्ते की मौत मर गया। वह तो अवश्य ही शोचनीय है, किन्तु जिन्होंने संसार में आकर यश कमाया, अपने प्रबल पराक्रम से शत्रुओं का हृदय दहलाया, बड़े-बड़े अभिमानियों पर आतंक जमाया और सम्मुख युद्ध में हँसते-हँसते शत्रु को बिना पीठ दिखाये शस्त्र के प्रहार से वीर गति को प्राप्त हुआ, ऐसा पुत्र तो परम प्रशंसनीय है। जननी ऐसे ही पुत्र से पुत्रवती कहलाती है। ऐसे ही पुत्रों से उसकी कोख सफल समझी जाती है। तेरे पुत्र ने सभी देवता और लोकपालों को वश में किया। शत्रु जिसके नाम से थर-थर काँपते थे, देवताओं के उसकी चर्चा से रोंगटे खड़े हो जाते थे, ऐसे शूरवीर का स्वयं साक्षात् विष्णु भी सामना न कर सके। उन्हें भी कपट वेष बनाकर उससे युद्ध करना पड़ा। यदि युद्ध में दुर्बल शत्रु से मारा जाय तो भी कुछ सोचने की बात है, किन्तु प्रबल शत्रु के हाथ से तो मारे जाने में भी प्रशंसा है। इसलिये तुम्हें अपने बच्चे के लिये तनिक भी सोच न करना चाहिये।''

दिति ने यह सुनकर आँसू पोंछते हुए कहा—''बेटा! तू कहता तो सत्य है। मेरा बच्चा संसार में सर्वश्रेष्ठ बली था, उसका सामना कोई भी नहीं कर सकता था। किन्तु क्या करूँ जब मैं सम्मुख इस विधवा बहू को देखती हूँ तो मेरा हृदय फटने लगता है। ये इसके छोटे-छोटे बच्चे पितृहीन होकर बिलबिला रहे हैं। मरने का समय तो मेरा था। जिस माता के सामने उसका युवावस्थापन्न पुत्र मर जाय, उसके समान अभागिनी संसार में और कौन हो सकती है? जिसकी युवती बहू सास के सम्मुख ही अपने सिर के सिन्दूर को पोंछकर विधवा बन जाय, उस बहू को देखकर कौन सास धैर्य धारण कर सकती है? मेरा क्या है बेटा, मैं तो नदी के कूल की लता के समान हूँ, कब कूल कट जाय, कब नष्ट हो

जाय। मुझे तो इन बच्चों का, इस भोली भाली बहू का सोच है। इन्हें तू समझा।''

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने छोटे भाई की बहू को जो अपने जेठ के सामने घूँघट मारे रो रही थी, जो उसकी पुत्रवधू के समान थी। सम्बोधन करके कहा—''बहू! तू इतनी बुद्धिमती होकर इस प्रकार बच्चों की भाँति विलाप कर रही है। यह बात ठीक नहीं। देख, सोच तब किया जाता है जब तेरा पति कहीं चला गया हो। अरी, पगली! वह तो यहीं है, जिसकी कीर्ति संसार में व्याप्त है वह मरकर भी जीवित ही बना हुआ है।''

बहू ने आँसू पोंछते-पोंछते घूँघट में से ही सिसकियाँ भरते हुए कहा—''मुझे तो वे दीखते ही नहीं। उनके बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगी?''

यह सुनकर हरिण्यकशिपु ने अत्यन्त प्रेम के साथ भर्राई हुई वाणी में कहना आरम्भ किया। भाई की स्मृति से उसका भी हृदय भर रहा था, किन्तु अपने को धैर्यवान् सिद्ध करते हुए वह बोला—''दीखते क्यों नहीं। ये तो तेरे सामने शकुनि, शंबर धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, आदि सब बच्चे बैठे हैं ये सब उसके ही तो प्रतिरूप हैं। पिता ही स्त्री के पेट से पुत्र बनकर फिर से उत्पन्न होता है। इसलिये पुत्रवती स्त्री जाया कहलाती हैं। वह अपने पति को ही उत्पन्न करती हैं, उसी के तेज को उदर में धारण करती है।''

रही सम्बन्ध की बात सो, यह संसारी सम्बन्ध तो क्षण भर का है। मार्ग में चल रहे हैं। चलते-चलते थक गये, कोई पानी का पौंसला देखा। कहीं तालाब का किनारा आ गया। छायादार वृक्षों को देखकर बैठ गये। कुछ पूर्व के यात्री आ गये, कुछ पश्चिम से आ गये, सब मिलकर एक पेड़ की छाया में विश्राम करने लगे। मीठी-मीठी प्रेम की बातें होने लगीं। क्षण भर में सम्बन्ध हो गया। जहाँ

दोपहरी ढल गई, धूप कुछ कम हो गयी। कोई पूर्व को चला गया, कोई पश्चिम को चला गया। सभी बिछुड़ गये। इसी प्रकार यह संसार रूप अध्वा हैं। इसमें ये सम्बन्ध ही बटोही हैं। भाग्यवश गृहस्थी रूपी छाया में सब मिल जाते हैं। परस्पर में प्रेम करने लगते हैं, समय आने पर फिर सब पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।''

इस पर दिति ने कहा—''हाँ, भैया! कहता तो तू यथार्थ है, किन्तु फिर भी अपने आदमी के मरने का शोक होता ही है।''

हिरण्यकशिपु ने बात पर बल देते हुए कहा—''मरना क्या? मरना भी एक प्रकार का भ्रम ही है। शरीर तो मरता नहीं। यही पड़ा रह जाता है। जब जीव इस शरीर से पृथक् हो जाता है, तो इस शरीर के समीप पञ्चभूत महाभूतों में मिल जाता है। रही आत्मा की बात, सो आत्मा न मरता है, न जन्म लेता है। वह तो नित्य अविनाशी; शुद्ध-बुद्ध सर्वगत तथा सर्वज्ञ है। उसका देह, इन्द्रिय, मन, आदि से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इन सब से वह सर्वथा पृथक है।''

दिति ने कहा—''फिर, भैया! वह देह धारण क्यों करता है?''

हिरण्यकशिपु ने कहा—''माँ! वास्तव में आत्मा तो न देह धारण करता है, न छोड़ता है। वह अपनी अविद्या शक्ति से ही सुख दुःखादि गुणों को स्वीकार करता हुआ-सा दिखाई देता है। और लिङ्ग शरीरों में उसका भान होता है।''

दिति ने कहा—''जब ये मायिक गुण आत्मा में नहीं हैं तो इन गुणों को अपने में धारण करके वह नाना क्रियाओं को क्यों कर रहा है? क्यों भ्रान्तवत् बना है?''

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—''कल्याणि! माता जी! आप स्वयं सोचें। आत्मा वास्तव में निर्विकार है, किन्तु अविद्याजन्य इन

मायिकं गुणों के कारण मन के भ्रमित होने पर आत्मा भी भ्रमित-सा जान पड़ता है। वस्तुत: वह देहादि लिङ्ग से रहित होने पर भी उनसे युक्त जान पड़ता है।''

दिति ने कहा—''भैया! यह कैसे हो सकता है?''

हिरण्यकशिपु ने कहा—''देखो, माँ! हम किसी नौका में बैठकर नदी की प्रबल धारा की ओर जाते हैं। नौका बड़े वेग से बह रही है तो किनारे के वृक्ष हमें ऐसे लगते हैं मानों ये हमारे साथ-ही-साथ चल रहे है। यही बात वेग वाली सवारी में बैठने से दीखती है। वास्तव में वृक्ष तो स्थिर हैं, वे चल नहीं रहे हैं। नौका के चलने के कारण भ्रम से उनमें चलने की प्रतीति होती है। छोटे-छोटे बच्चे चाँई-माई करके घूमते हैं, भ्रमरी नृत्य करते हैं। वेग के कारण घूमने से ऐसा प्रतीत होता है मानों यह समस्त पृथ्वी वृक्ष आदि घूम रहे हैं। भ्रमवश अज्ञानी बालक कहते हैं—

''हमारे साथ पृथ्वी भी घूम रही है। यह सब आत्मविपर्यय के कारण ही होता है।''

दिति ने पूछा—''आत्म, विपर्यय, भैया! किसे कहते हैं?''

हिरण्यकशिपु ने कहा—''अशरीरी आत्मा में शरीर की भावना होना। असत् को सत् समझना, अनात्मा में आत्मा का आरोप करना। यही आत्मविपर्यय कहलाता है। बस यह आत्मविपर्यय ही दु:ख, शोक तथा चिन्ता का हेतु है। इसी के कारण यह प्रिय है, यह अप्रिय है। यह सुख है, यह दु:ख है, यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है। यह संयोग है, यह वियोग है। इस प्रकार के द्वन्द्वों की अनुभूति होती है। इसी आत्मविपर्यय के कारण कर्म करते हैं और उन कर्मों के द्वारा संसार में जन्म-मरण होता है। नाना प्रकार के शोक, मोह, द्वेष, भय, उद्वेग, आधिव्याधि, अविवेक, आत्मविस्मृति तथा अनेक प्रकार की चिन्तायें होती हैं।

इस विषय में मैं तुम सबको एक बहुत ही प्राचीन शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब बड़ी सावधानी से सुनो। उसके सुनने से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।''

नारदजी कहते हैं—''धर्मराज! यह कहकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भातृपत्नी तथा भतीजों को बहुत ही सुन्दर शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाने लगा। उसे आप भी समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

देखो माता कौन बन्धु का को सम्बन्धी।
करें मृतक हितशोक प्रथा जगकी यह अंधी।।
नदी धार तृन बन्धु परस्परमहँ मिलि जावें।
सङ्ग-सङ्ग कछु चलें फेरि इत उत बिलगावें।।
आत्मा अविनाशी अमर, सदा एक रस सर्वगत।
मायिक गुण सम्बन्धतें, भ्रमवश दीखें भ्रान्तवत।।

यमराज और प्रेतबन्धुओं का संवाद

(४५१)

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य प्रेतबन्धूनां सम्वादं तं निबोधत।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

नृप सुयज्ञ इक मर्‌यो युद्धमहँ शत्रु हाथतें।
दु:खित परिजन भये भूपकी मृत्यु बाततें।।
मृतक देहकूँ धेरि बन्धु रोवें डकरावें।
छाती सबई धुनैं दीन ह्वैके बिललावें।।
रानिनि रोवत देखिके, यम बालक बनिकें गये।
विविधि भाँतिके ज्ञानतें, सबकूँ समझावत भये।।

भगवान् की माया कैसी प्रबल है, मनुष्य नित्य देखता है, संसार में कितने लोग नित्य पैदा होते हैं, कितने मरते हैं। हमारे सम्मुख कितने बच्चे पैदा हुए, कितने पैदा होते ही मर गये, कितने १०/५ वर्ष के होकर मरे, कितने ही युवा होकर मर गये, कोई अधेड़ अवस्था में, कोई वृद्ध होकर मरे। हमारे कितने साथी मर गये, घर में ही बाबा, पिता, चाचा, ताऊ, गोत्र परिवार वाले मरे, हमें भी एक दिन अवश्य मरना है, फिर प्रियजनों को मृत्यु पर लोग कितना दु:ख करते हैं, कितने रोते-बिलबिलाते हैं यह सब भगवान् की माया का चक्कर है। ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में जन्म भी

✯ *हिरण्यकशिपु अपनी माता आदि को समझाते हुए कह रहा है—"इस सम्बन्ध में एक मृतक व्यक्ति के बन्धुओं के साथ यमराज का जो सम्वाद हुआ था वह पुराना उदाहरण कहा जाता है। उस इतिहास को तुम सब मुझसे श्रवण करो।"*

एक खेल है, मृत्यु भी एक खेल है। जीवात्मा तो मरता नहीं। शरीर का रूपान्तर हो जाता है। इसमें सोच करने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि मरा हुआ पुरुष लौटकर आ नहीं सकता। यम जिसे उठा ले गया वह चला गया।

नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई की पत्नी तथा भतीजों को समझाते हुए कह रहे हैं—"देखो, तुम सब ध्यानपूर्वक सुनो, तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

प्राचीनकाल में उशीनर देश के एक बड़े धर्मात्मा शूरवीर राजा थे। उनका नाम था सुयज्ञ। सुयज्ञ यथा नाम तथा गुण थे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ याग किये थे। वे अपनी पत्नियों को दान-सम्मान से सदा सन्तुष्ट रखते थे। अपने बन्धु बान्धवों से भी बड़ा स्नेह रखते थे। सम्पूर्ण प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी, वे भी सबका भेद भाव और पक्षपात के बिना पुत्र के समान पालन करते थे। एक समय की बात है कि शत्रुओं ने एक साथ मिलकर उन पर चढ़ाई की। राजा शूरवीर और योद्धा तो थे ही। उन्हें अपने बाहुबल पर भरोसा था। अतः वे शत्रुओं से लड़ने गये। कई शत्रुओं ने अकेले राजा को घेर लिया और उन्हें मार डाला।

राजा की रानियों ने जब अपने प्राणनाथ के परलोक प्रयाण का दुःखद समाचार सुना तो वे छाती पीटती हुई रणभूमि को ओर नंगे पैरों ही बिना सवारी के पैदल चलीं। राजा के बन्धु बान्धव, पुत्र तथा मन्त्री पुरोहित भी शोक सन्तप्त हुए आँसू बहाते हुए राजा को देखने चले। रानियों और राजपरिवार के लोगों को आते देखकर धर्मतः शत्रु सेना वहाँ से हट गई और राजपरिवार के लिये सभी सुविधायें कर दीं। रानियों ने जब अपने प्राणेश्वर को पृथ्वी में रक्त से लथपथ पड़ा देखा तो उनके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। महाराज

जो रत्नजड़ित कवच अपने अङ्ग में पहिने थे, वह बाणों तथा अन्य अस्त्रों के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो गया था, उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे। मणि मुक्ताओं की मालायें जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी थीं। हृदय में अनेकों बाण बिँध रहे थे। उनसे रक्तस्त्राव हो रहा था। सिर के सुन्दर शोभायमान बाल इधर-उधर बिखरे हुए थे। नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी। क्रोध के कारण वे दाँतों से ओठ को काट रहे थे। उनका मुखारविन्द म्लान हुआ धूलि से धूसरित हो रहा था। कहीं तूणीर पड़ा था। कहीं टूटा हुआ धनुष पड़ा था उनके प्राण पखेरू शरीर त्याग करके परलोक को प्रयाण कर गये थे।

राजा को इस दशा में देखकर उनकी सब रानियाँ उसी प्रकार चिङ्घाड़ मारने लगीं, जैसे यूथपति के मारे जाने पर हथिनियाँ चिङ्घाड़ मारती हैं। उन स्त्रियों ने लज्जा का परित्याग कर दिया था। जिन्हें सूर्य भी कभी नहीं देख सकता था, उन्हें आज साधारण सैनिक बिना बाधा के देख रहे थे। उनके नेत्रों से श्रावण भादों के मेघ के समान अश्रुओं की धारा बह रही थी। वे मृतक महाराज के चरणों को अपने वक्षस्थलों पर धारण करके रो रही थीं। सिर धुन-धुनकर कह रही थीं—"हा नाथ! हम तो बिना मौत के ही मारी गई। हे प्राणनाथ! आप हम सबको परित्याग करके अकेले ही कहाँ चले गये।"

अत्यन्त शोक के कारण उनके अश्रु कपोलों के द्वारा बहकर वक्षःस्थल पर आते और वहाँ कुच कुंकुम की अरुणिमा को साथ लिये हुए प्रतीत के पादपद्मों पर पड़ते तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे अपने हृदय के स्निग्ध अनुराग से पति के पैरों का प्रक्षालन कर रही हों।

वे रो रही थीं, शोक में हिल-डुल रही थीं, मृतक पति के अङ्गों का आलिङ्गन कर रही थीं, उनके सिर के वस्त्र उतर गये थे

केश पाश अस्त्र-व्यस्त हो गये थे। उनमें लगी मालती सुमनों की माला गिर गई थी, उनकी आँखों का अञ्जन धुल गया था। सम्पूर्ण शरीर रक्त से सन गया था, वे कुररी पक्षियों की भाँति करुण क्रन्दन करती हुई कह रही थीं—"हाय निर्दयी विधाता! तूने यह क्या किया? हमारे साथ ऐसा अन्याय क्यों किया? हमने तेरा क्या बिगाड़ा था, तैंने हमसे किस वैर का बदला लिया। असमय में तैंने हमें प्राणेश्वर से पृथक् कर दिया। ऐ निर्दयी दैव! तुझे दया भी नहीं आती। अबलाओं पर अपना बल दिखाते हुए तुझे लज्जा भी नहीं लगती, हम अब किसके आश्रय में रहें। किनका कमल मुख देखकर जीवन धारण करें।"

इस प्रकार वे विधाता को उपालम्भ देती हुईं फिर अपने पति को सम्बोधन करके कहने लगीं—"स्वामिन्! हे प्राणनाथ! हे जीवन सर्वस्व! आप तो अपनी प्यारी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, आप तो सबके वृत्तिदाता तथा भयत्राता थे। भयभीत हुई हम सबको आप भय से क्यों नहीं बचाते? हम दुखियों को हमारे सिर पर अपना सुखस्पर्शी करकमल रखकर धैर्य क्यों नहीं बँधाते? आप हम असहाय अबलाओं को अनाथ करके अकेले ही परलोक को क्यों चले गये। आप जैसे अत्यन्त कृतज्ञ प्रियतम के बिना हम सब कैसे जीवित रह सकेंगी? किनका स्नेहभरित मधुमय मंजुल मुख देखकर प्राण धारण कर सकेंगी?

हे पृथ्वीपति! हम पत्नियों से उदासीन होकर आप पृथ्वी का आलिङ्गन किये चिरकाल से क्यों पड़े हैं? यह आपके अयोग्य है। आप तो सदा रत्नजटित शैय्या पर शयन किया करते थे। हे वीर! यदि आपने भूमण्डल को परित्याग करके परलोक जाने का निश्चय ही कर लिया है तो आप अकेले न जायँ। वहाँ आपकी सेवा कौन करेगा। आप हम सबको भी साथ ले चलें। हम सदा से आपके

चरणों की चेरी रही हैं हमारे अधिकार पर आघात न करें, हमारे स्वत्व को न छीनें, हे देव! हमें भी आप अपने सङ्ग ही ले चलो।''

हिरण्यकशिपु कह रहा है—''देखो, जब वे स्त्रियाँ अपने मृतक पति से लिपटकर इस प्रकार शोक करती हुई करुण-क्रन्दन

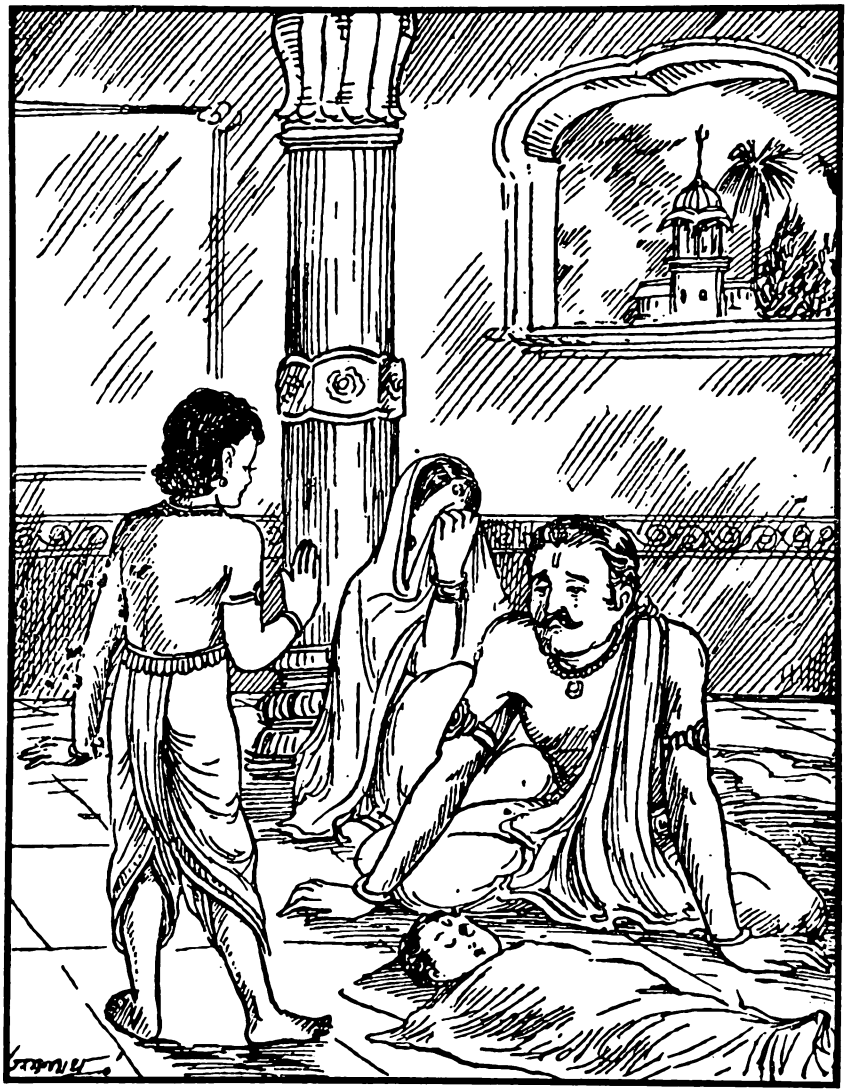

करने लगीं तब सभी का हृदय फटने लगा। सूर्यास्त हो रहा था, राजा के बन्धु बान्धव महराज के मृतक शरीर का दाह संस्कार करना चाहते थे, क्योंकि रात्रि में तो दाह संस्कार हो नहीं सकता, किन्तु शोक के कारण वे स्त्रियाँ राजा के शरीर को किसी भी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं थीं, तब राजा के समस्त परिवार के लोग अत्यन्त ही दुखी हुए।

उन सबको इस प्रकार दुखी देखकर सहसा न जाने कहाँ से एक ४-५ वर्ष का बालक वहाँ आ गया। वह मैले-कुचैले वस्त्र पहिने हुए था। उसके मुख पर मन्द मुस्कान छिटक रही थी। देखने में वह बड़ा तेजस्वी जान पड़ता था। राजा की रानियों और उनके बन्धु-बान्धवों को इस प्रकार शोक मग्न हुआ देखकर स्वयं अपने आप ही कुछ कहने लगा मानों आकाश से बातें कर रहा हो।

उसने उपेक्षा के स्वर में कहा—"देखो, भगवान् की कैसी प्रबल माया है। ये रोने वाले स्त्री पुरुष मुझसे अवस्था में कितने बड़े हैं। कितने लोगों को नित्य मरते देखते हैं। फिर भी बोध नहीं होता। यद्यपि मैं बालक हूँ। अभी मेरी अवस्था बहुत छोटी है। फिर भी मुझे कोई विशेष दुःख नहीं होता। इनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दया के कारण मुझे दुःख हो रहा है। ये सब संसार की जन्म मरण रूप गति को निरन्तर देखते हैं। देखते हुए भी ये अन्धे हो रहे हैं। हमें जाल में जकड़े हुए हैं। बताइये, सोच करने की इसमें कौन-सी बात है। अरे, सुयज्ञ सदा तो यहाँ रहने वाला नहीं था। कहीं से आया था, जहाँ से आया था, वहाँ चला गया। इसके लिये रोना-धोना व्यर्थ है। अच्छा, यदि वे रोने वाले भी सदा यहीं बने रहें तो भी रोने का कुछ अर्थ हो सकता है। ये स्वयं भी मरणधर्मा हैं। एक दिन इन सबको भी मरना है, इसी के पथ का अनुसरण करना है, फिर रोने का काम क्या?"

हिरण्यकशिपु कह रहा है—"हे माताजी! उस बालक की बातों को ध्यानपूर्वक सुनो। बहू सुनती है? तू भी कान खोलकर सुन ले बेटा! तुम भी उस बालक के वचनों पर विचार करो। देखो, उसने कैसी ज्ञान की गूढ़-गूढ़ बातें कहीं। सबको सावधानी से सुनो और सुनकर मनन करो, तब तुम्हारा सब शोक मोह दूर हो जायगा।"

छप्पय

बोले अपने आप अहो अद्‌भुत हरि माया।
पति है काको कौन कौन काकी है जाया।।
नितई देखें मरत न सोंचें तोऊ प्रानी।
काल न देखें दीन दुखी राजा अरु रानी।।
आयो जहँतें जीव तिह करे तहाँई गमन है।
स्वयं तहाँ सब जायँगे, व्यर्थ शोक दुख रुदन है।।

सबके रक्षक श्रीहरि ही हैं

(४५२)

अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे।। ✯
(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शिशुपनतें ई हमें पिता माताने त्याग्यो।
कोई ढिँग नहिँ रखें कहें सब बड़ो अभागो।।
ह्वै अनाथ वनमाहिँ फिरें तरुवर सो जावें।
भोजन हू मिलि जाइ भेड़िया सिंह न खावें।।
मृत्यु समय यदि निकट नहिँ, रहे चाहिँ वनमहँ पर्‌यो।
करें सदा पालन जिननि, गर्भ माहिँ पालन कर्‌यो।।

काल को दुर्निवार बताया है। मृत्यु को कोई टाल नहीं सकता। जन्म के साथ-ही-साथ मृत्यु उत्पन्न होती है। मृत्यु की घड़ियाँ जन्म लेने के साथ ही माता के उदर में ही निश्चित हो जाती है। वयमाता अपनी लेखनी से लिलार में लिख देती है, इसकी मृत्यु अमुक समय में अमुक के द्वारा अमुक स्थान में होगी। जो वयमाता ने लिख दिया उसे कोई मेट नहीं सकता। उसकी अलीक लिपि को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। विधि के लेख पर

✯ *प्रेत बन्धुओं से बालक रूपधारी यम कह रहे हैं—"अहो ! हम परम धन्य हैं, क्योंकि हमें हमारे माता-पिता ने परित्याग कर दिया है, फिर भी हम चिन्ता नहीं करते। हमारे में बल नहीं है, फिर भी जङ्गल में रहने पर भी हमें भेड़िया आदि हिंसक जन्तु नहीं खाते। सच है जिसने गर्भ में रक्षा की है वही अब भी करेगा।"*

मेख मारने की सामर्थ्य किसकी है। जिसका काल नहीं आया है, उसे किसी भी उपाय से न मार सकेगा। उसे विष दे दीजिये पच जायगा या वमन होकर निकल जायगा। विषधर्म सर्प से कटा दीजिये कुछ न होगा। पर्वत से गिरा दीजिये जीवित बच जायगा। सहस्त्रों अस्त्र-शस्त्रों के प्रहारों को सहकर भी वह सकुशल लौट आवेगा। इसके विपरीत जिसका काल आ गया है, वह कङ्कड़ों से मर जायगा। छींक आते ही प्राण निकल जायँगे। बैठे-बैठे, खाते-पीते, बोलते-चालते हृदय की गति रुक जायगी। इसलिये अवश्यम्भावी मृत्यु के लिये सोच न करना चाहिये। मृत्यु का आना अवश्यम्भावी है, जो पैदा हुआ है उसे एक दिन अवश्य मरना है, उसे कोई किसी भी उपाय से अन्यथा नहीं कर सकता। जो दुर्निवार वस्तु है, उसके लिये सोच करना मूर्खता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता, बहन और भतीजों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो! जब सुयज्ञ की रानी विलाप कर रही थीं तो उस बालक ने हँसकर कहा—"देखो! ये इतनी बड़ी-बड़ी अवस्था के स्त्री पुरुष इस प्रकार अनाथों की भाँति रुदन कर रहे हैं। इनके घर हैं, द्वार है, धन है, परिवार है फिर भी ये अपने को दुखी समझ रहे हैं। इसलिये कि इनका सगा सम्बन्धी राजा मर गया है। अब तो मर गया सो मर गया। मरा हुआ लौटकर तो आ नहीं सकता। जिसका काल आ गाय है, उसे कोई बचा नहीं सकता और जिसका काल नहीं आया उसे कोई किसी भी उपाय से मार नही सकता।

हम बाहर दृष्टान्त खोजने कहाँ, जायँ, हम अपनी ही बात बताते हैं। एक दरिद्र के घर में हम उत्पन्न हुए। बाल्यकाल में ही हमारे माता-पिता अबोध छोड़कर मर गये। हम अनाथ और असहाय हो गये। किसी सगे सम्बन्धी ने हमें आश्रय नहीं दिया। घोर अरण्य में आकर हम भाग्य के सहारे बैठ गये। हमने निश्चय कर लिया यदि हमारी मृत्यु है तो हमें कोई कितना भी सुख देकर बचा नहीं

सकता। यदि हमारी मृत्यु अभी नहीं है तो हमें कोई किसी भी उपाय से मार नहीं सकता। इसी धारणा को दृढ़ करके हम स्वछन्द होकर वनों में विचरते हैं। न ऊधो का लेना। न माधो का देना। प्रारब्धवश जो मिल जाता है उसे खा लेते हैं। गङ्गाजी के स्वच्छ निर्मल पापहारी पय को पी लेते हैं और वृक्षों के नीचे पड़े रहते हैं। हमें न तो कोई सिंह आकर खाता है, न व्याघ्र। न चीता आता है न भेड़िया। रीछ निकट से निकल जाते हैं, सर्प कभी-कभी साथ ही सो जाते हैं। न कोई काटता है, न सताता है, क्योंकि हमारा अभी काल नहीं आया। जिस दिन काल आ गया, उस दिन बड़े-बड़े महलों में रहें तो वहाँ भी नहीं बच सकते। न तो कोई मनुष्य किसी को मार सकता है, न जिला सकता है। इसी सुयज्ञ ने न जाने कितनों को युद्ध में परास्त किया था, उस समय कोई इसका बाल भी बाँका न कर सका। अब इसकी मृत्यु का समय आ गया शत्रु के हाथों मारा गया। इसमें शोक सन्ताप करने की कौन-सी बात है। देखो, चन्द्रहास को मारने के लिये कितने उपाय किये गये तो भी वह मरा नहीं। उल्टे भगवान् की कृपा से उसका वैभव ही बढ़ा, अनाथ से राजा हो गया।

इस बात को सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग! चन्द्रहास को शत्रुओं ने क्यों मारना चाहा और वे कैसे बच गये। इस कथा को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। आप उचित समझें तो इस उपाख्यान को हमें सुनावें।"

शौनकजी की बात सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह बड़ा ही सुन्दर रोचक और शिक्षाप्रद कथानक है। इसे आप सबको सुनाता हूँ आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक बड़े धर्मात्मा राजा थे। उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र सर्वाङ्ग सुन्दर था। उसका मुखमण्डल भव्य था, देखने में वह अत्यन्त ही मनोहर लगता था। उसके अङ्ग सुडौल थे। सुवर्ण के समान उसका वर्ण था। सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी उसमें एक दोष था। वह व्यङ्ग था पाँच

के स्थान में एक हाथ में उसके छः उँगलियाँ थीं। ज्योतिषियों ने बताया—"महाराज! विशेष अङ्ग वाला बालक माता-पिता के लिये अशुभ होता है, उस पर धन ठहर नहीं सकता। अतः आप इस पुत्र का परित्याग कर दें।"

राजा के एक पुत्र ही पुत्र था, वह भी वृद्धावस्था में हुआ था। ऐसे सुन्दर पुत्र को वे कैसे परित्याग कर सकते थे। उन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और पुत्र का अत्यन्त स्नेह के साथ लालन-पालन करने लगे।

सब समय एक-सा नहीं रहता। दुख के पश्चात् सुख और सुख के पश्चात् दुख यह चक्र सदा ही चलता रहता है। न संसार में कोई सदा सुखी-ही-सुखी रहा है न दुखी-ही-दुखी, अब तक जो राजा सभी सुखों का भोग करते थे और अपने पुत्र चन्द्रहास को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, उन्हीं पर सहसा उनके शत्रु राजा ने चढ़ाई कर दी। युद्ध में राजा मारे गये। रानी ने पति की मृत्यु का समाचार सुनते ही अपने शरीर का परित्याग कर दिया। अब केवल मातृ-पितृ विहीन तीन-चार वर्ष का राजकुमार चन्द्रहास ही उस काल में बच गया। कुमार की धाई कुमार को पुत्र से भी बढ़कर प्यार करती थी। उसने जब देखा कि कुमार ही रह गया है, यदि यह शत्रु के हाथों पड़ जायगा तो शत्रु इसे मार डालेंगे। अतः बड़े कौशल से कुमार को छिपाकर वह गुप्त मार्ग से राजधानी के बाहर हो गई। उसने कुमार को फटे-पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहिना दिये थे। वह गाँवों में जाकर भीख माँगती और सबसे कहती यह अनाथ बालक है। मैले-कुचैले वस्त्रों में कामदेव के समान शिशु को देखकर सभी चकित हो जाते। और उसे दयावश कुछ-न-कुछ दे देते। इस प्रकार वह धाई माँगती खाती कुन्तल देश में पहुँची। वहाँ के राजा बड़े धार्मिक थे। राज्य का समस्त भार अपने प्रधान मंत्री धृष्टबुद्धि को सौंप रखा था। वैसे धृष्टबुद्धि राज्य-काज में तो बड़ा प्रवीण था, किन्तु बड़ा हठी था। जिस बात को वह निश्चित कर लेता उसे शक्ति भर करके ही

छोड़ता था। राज्य में उसकी बड़ी धाक थी। सभी उसके नाम से डरते थे, राजा तो नाम मात्र के राजा थे, वास्तव में कुन्तल देश का धृष्टबुद्धि ही बिना छत्र का राजा था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम मदन था। वह बड़ा ही सरल तथा साधु स्वभाव का था, माता-पिता का आज्ञाकारी और साधु सेवक था। धाय ने कुन्तल देश में आकर लोगों से कहा—"मुझे कोई नौकर रख लो जिसमें मैं अपने इस बच्चे का पालन-पोषण कर सकूँ।"

उस बच्चे के ऐसे रूप लावण्य को देखकर नगर निवासियों ने कहा—"माताजी! आप महामन्त्री धृष्ठबुद्धिजी के समीप जायँ, उनसे आप प्रार्थना करेंगी तो वे आपको अवश्य ही आश्रय देंगे।"

धाई यह सुनकर धृष्टबुद्धि के समीप गई। संयोग की बात कि महामंत्री द्वार पर ही खड़े मिल गये। धाय ने जाकर दीनता भरे स्वर में रोकर कहा—"अन्नदाता! मैं अनाथ निराश्रिता अबला हूँ। विपत्ति में पड़कर इधर-से-उधर भटक रही हूँ। मेरा यह तीन चार वर्ष का बच्चा है, इसे लेकर मैं आपकी शरण आई हूँ। मुझे कोई टहल मजदूरी मिल जाय तो मैं इस बच्चे का पालन कर सकूँ।"

उस बच्चे की भोली-भाली सूरत देखकर महामंत्री को दया आ गई और उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तू यहाँ महलों में रहकर जो तुमसे बने काम कर दिया कर, तेरी सभी आवश्यकताओं की यहाँ पूर्ति होगी।"

धाय ने महामंत्री का जय-जायकार किया और वह उनके महलों में रहकर टहल-चाकरी करने लगी। चन्द्रहास को आश्रय मिला। वह महामन्त्री के बच्चों के साथ खेलने लगा। वहाँ कोई काम तो था ही नहीं, सुखपूर्वक दिन काटने लगे।

कहीं भी चले जाओ भाग्य तो साथ ही जाता है। भाग्यवान् को सर्वत्र सुख-ही-सुख मिलता है, किन्तु भाग्यहीन सुमेरु पर चला जाय तो वह पत्थर-सा दिखायी देने लगता है। चन्द्रहास के दुर्भाग्य का अभी अन्त नहीं हुआ था। वर्ष दो वर्ष के पश्चात् उसकी धात्री

भी उसे अनाथ बनाकर इस लोक का परित्याग करके पर परलोकगामिनी हो गई। अब तो चन्द्रहास सभी ओर से आश्रयहीन हो गया। जब मनुष्य सभी ओर से निराश हो जाता है, तब उसे भगवान् का स्मरण होता है। भगवान् को तो निर्बल के बल, निर्धन के धन और निराश्रय के आश्रय कहा ही गया है। जो सब ओर से निराश्रय हो जाता है, अपना पुरुषार्थ खो बैठता है, उसे भगवत् कृपा का अनुभव होता है। चन्द्रहास ने भी देखा संसार में अब मेरा कोई नहीं है। एकमात्र श्रीहरि ही मेरी शरण हैं। यह सोचकर वह आर्त्तस्वर से एकान्त में रो-रोकर भगवान् को पुकारने लगा। संयोग की बात कि उसी समय एक महात्मा वहाँ पधारे। इस बालक की ऐसी निष्ठा देखकर उन्होंने इस पर कृपा की। भगवान् के नाम का उपदेश दिया और श्री शालिग्राम की एक बटिया इसे पूजन करने के लिये दी और कह दिया—"ये भगवान् है। सदा इन्हें स्नान करके चरणामृत लेना और इन्हें भोग लगाकर ही प्रसाद पाना।"

चन्द्रहास को मानों निधि मिल गयी। भगवान् शालिग्राम को पाकर वह परम प्रसन्न हुआ। उन्हें वह कहाँ रखता, कोई स्थान उनके लिये नहीं था, अत: वह भगवान् के श्री विग्रह को अपने मुख में सदा रखे रहता। प्रात: नदी किनारे चला जाता, नित्य कर्मों से निवृत्त होकर वह नदी में स्नान करता फिर मुख से भगवान् शालिग्राम को निकालता, स्नान करता, वहीं से शुद्ध मृत्तिका लेकर लगाता, जङ्गल में कोई फल-फूल मिल जाता तो भगवान् को नैवेद्य चढ़ाता और पूजा करके उन्हें पुन: मुख में धारण कर लेता। प्रेम में भरकर भगवान् के नामों का कीर्तन करता रहता। गद्‌गद् कण्ठ से प्रभु की स्तुति करता और स्तुति करते-करते उनके ध्यान में तन्मय हो जाता। घर में आकर उसे मन्त्री के यहाँ से जो कुछ भोजन को मिलता पहिले उसे भगवान् का भोग लगाता, तब उसे प्रभु का प्रसाद समझकर प्रेमपूर्वक पाता। इस प्रकार वह निरन्तर भगवान् के ध्यान और भगवन् परिचर्या में निमग्न रहने लगा। महामंत्री धृष्टबुद्धि

की एक २-३ वर्ष की छोटी पुत्री थी उसका नाम था विषया। वह बड़ी ही सुन्दर थी। महामंत्री का उसके ऊपर सहज स्नेह था। एक पुत्री होने के कारण वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते। लड़की बड़ी ही भोली-भाली चञ्चल और होनहार थी। जो भी उसे देखता वही उसे प्रेम से गोद में उठा लेता और प्यार करता, लड़की चन्द्रहास के साथ खेला करती थी। चन्द्रहास की अवस्था ६-७ वर्ष की थी उस कन्या की अवस्था २-३ वर्ष की थी दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को प्यार करते थे।

एक दिन महामंत्री के यहाँ कोई पर्व का महोत्सव था। दूर-दूर के सन्त महात्मा और ब्राह्मण उत्सव में पधारे थे। महामंत्री ने उन सबका सत्कार किया, बड़ी धूम-धाम से उत्सव होता रहा। उसी उत्सव में महामंत्री ने अपनी छोटी कन्या को ले जाकर महात्माओं के चरणों में डाला और पूछा—"महात्माओं! मेरी यह प्राणों से भी प्यारी पुत्री है। आप लोग सर्वज्ञ हैं,यह बतावें इसका भाग्य कैसा है? इसे अच्छा घर वर तो मिलेगा?"

महामंत्री जब महात्माओं से यह पूछ रहे थे, तब चन्द्रहास भी वही बैठा था। उन सन्तों में से एक वृद्ध से सन्त उसी बच्ची का हाथ देखने लगे। सहसा उनकी दृष्टि चन्द्रहास के तेजस्वी मुखमण्डल पर पड़ी। उन्होंने बालक चन्द्रहास को अपने समीप बुलाया। उसके सभी अङ्गों के लक्षण देखकर महामंत्री से बोले "मन्त्री जी! आप बुरा न मानें तो मैं एक बात कहूँ?"

मंत्री जी ने बड़े उल्लास के साथ कहा—"नहीं, भगवन्! बुरा मानने की कौन-सी बात है, आप जो कहना चाहें नि:सङ्कोच होकर कहें।"

इस पर वे वृद्ध सन्त बोले—"देखिये, मंत्रीजी! यह जो बालक है, बड़ा प्रतापशाली है। भविष्य में यही आपका स्वामी होगा और यही आपकी पुत्री का पति भी होगा। अत: आप इसका श्रद्धा और सावधानी के साथ पालन-पोषण करें।"

यह सुनकर घृष्टबुद्धि को तो मन-ही-मन बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"यह तो मेरा घोर अपमान है। मैं तो सोच रहा था, अपनी पुत्री का विवाह किसी राजकुमार के साथ करूँगा। मुनि कहते हैं, यह अनाथ दासी पुत्र मेरा जामाता बनेगा और मेरा स्वामी भी। ऐसा मैं कभी न होने दूँगा। यह तो मेरा घोर अपमान है। अब तक जो दास बनकर मेरे टुकड़ों से पला है, उसे मैं अपनी कन्या कैसा दे सकता हूँ, कैसे इसके पैर पूज सकता हूँ। किस प्रकार इसके अधीन होकर इसकी आज्ञा का पालन कर सकता हूँ। सम्भव है ऋषियों ने कुछ सोचा हो। अब तो यह मेरे अधीन है। इसे अभी से क्यों न मरवा दूँ। "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी" मूल के छिन्न होने पर उसके शाखा पत्ते कैसे निकल सकते हैं। जब यह रहेगा ही नहीं तो मेरा जामाता तथा राजा कैसे बन सकेगा।" यह सोचकर उसने अपने भावों को छिपाते हुए कहा—"भगवन्! दैवगति विलक्षण है। पता नहीं क्षण में क्या-से-क्या हो जाता है। जो होने वाला होगा, वह होगा ही।" यह कहकर वह अपनी पुत्री को गोद में लेकर भीतर चला गया। इधर उत्सव भी समाप्त हो गया। सन्त महात्मा अपने-अपने स्थानों को चले गये।

दूसरे दिन महामंत्री धृष्टबुद्धि ने बधिकों को बुलाकर कहा—"देखो, तुम इस दासी के नीच बच्चे को घोर जङ्गल में ले जाओ। वहाँ इसका वध करके नदी में फेंक आना। बड़ी सावधानी से यह कार्य करना किसी को न मालूम होने पावे।"

बधिकों ने हाथ जोड़कर महामंत्री की आज्ञा शिरोधार्य की। जब रात्रि हो गई तो उस बच्चे को पकड़कर वे जङ्गल में ले गये। उजाली रात्रि थी, एक सघन वन में चट्टान के ऊपर बधिकों ने चन्द्रहास को बिठा दिया। उन्होंने चमचमाता हुआ खड्ग निकालकर चन्द्रहास से कहा—"ओ बच्चे! अब तुझे जो करना हो वह कर ले। अब हम तेरा सिर धड़ से पृथक् करते हैं?"

चन्द्रहास ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भाइयो! तुम मुझे

क्यों मारने चाहते हो? मैंने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है?''

इस पर एक बधिक बोला—''हमारा तो तुमने कुछ भी नहीं बिगाड़ा है, किन्तु महामंत्री की ऐसी ही आज्ञा है। हम तो उनके अधीन हैं, हमारा काम ही हत्या करने का है, जिसे मारने की हमें आज्ञा मिलती है उसे मार ही डालते हैं।''

इस पर चन्द्रहास ने कहा—''अच्छा भैया! यदि तुम मुझे मारना ही चाहते हो तो मुहूर्त भर ठहर जाओ मैं अपने भगवान् की पूजा स्तुति कर लूँ, तब मुझे प्रसन्नता पूर्वक मार डालना।''

इस पर युवक से बधिक ने कहा—''हम इतनी देर नहीं रुक सकते।''

यह सुनकर उन सबमें जो श्रेष्ठ था, जो सबका चौधरी था वह बोला—''भगवान् की पूजा करना चाहता है, कर लेने दो। हमें और काम ही क्या है।''

चौधरी की बात सुनकर सभी सहमत हो गये। समीप ही एक जल का स्रोत बह रहा था। चन्द्रहास ने स्नान किया। मुख से शालिग्राम निकाले। विधिवत् पूजा की और नेत्र बन्द करके वह अत्यन्त ही करुण भरी वाणी में भगवान् की स्तुति करने लगा। वह समझ रहा था कि मेरी अन्तिम स्तुति है, अत: उसका हृदय भर रहा था। इच्छा न होने पर भी दोनों नेत्रों से अश्रुओं की दो धारायें बह रही थीं। गद्गद कण्ठ से वह ममता भरी वाणी में प्रभु को पुकार रहा था। उसके करुण क्रन्दन और प्रेमोद्रेक के कारण पत्थर भी पिघल गये, वायु की गति रुक गयी, प्रकृति स्तब्ध हो गयी। बधिकों के मन में भी दया उत्पन्न हो गयी। वे सोचने लगे—''महामंत्री न जाने क्यों इस फूल से बच्चे का बध करना चाहते हैं। इसने किसी का क्या अपकार किया होगा। कैसा भोला-भाला बालक है। भगवान् में इसका कैसा अनुराग है। कैसी इसकी निर्मल बुद्धि है, भगवान् में कैसी इसकी भक्ति है। हम लोग इसे बिना अपराध क्यों मारें?''

बधिक ये बातें सोच रहे थे कि इतने ही में चन्द्रहास पूजा स्तुति से निवृत्त होकर बधिकों के समीप आया और अपनी भोली-भाली सरल वाणी से विनयपूर्वक बोला—"भाइयो! अब तुम मुझे मार सकते हो?"

यह सुनकर उसी बूढ़े बधिक ने पूछा—"बेटा! महामन्त्री का तुमने क्या अपराध किया था। वे तुम्हें क्यों मरवाना चाहते हैं?"

चन्द्रहास ने कहा—'भैया! मुझे तो पता ही नहीं, वे मुझे क्यों मरवाना चाहते हैं। वे तो सदा मुझे पुत्र की भाँति प्यार करते थे।"

इस पर बुड्ढे बधिक ने कहा—"अच्छा, देखो! यदि तुम कभी भूलकर भी महामंत्री के समीप न जाओ तो हम तुम्हें जीवित ही छोड़ देंगे। बोलो तुम्हें यह बात स्वीकार है न?"

चन्द्रहास ने कहा—"मुझे अब उनके समीप जाने की क्या आवश्यकता है? अब तो मैं एकान्त जङ्गलों में विचरूँगा और भगवान् का भजन करूँगा।"

चन्द्रहास की सरलता तथा सुकुमारता पर रीझकर बधिकों को उसे मारने का साहस न हुआ। उनके मन में भी दया का सञ्चार हो गया। चिन्ह ले जाने के लिये उसकी जो एक अधिक उँगली थी वह काट ली। उँगली काटने से बालक अचेत-सा हो गया। उसे उसी अवस्था में छोड़कर बधिक नगर को चले गये। चन्द्रहास वहीं अचेत बना पड़ा रहा। महामंत्री के समीप जाकर बधिकों ने निवेदन किया—"महाराज! हम आपकी आज्ञानुसार उस बच्चे को मार आये हैं, चिन्ह स्वरूप उसकी यह अधिक उँगली ले आये हैं।"

महामंत्री को यह सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्हें सन्देह के लिये तो कोई स्थान ही नहीं था। वे सोचते थे बधिक मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर नहीं सकते। अत: उन्हें ही निश्चय हो गया कि मेरा शत्रु मारा गया। उसके वध की बात सुनकर महामंत्री निश्चिन्त हो गये। जिसकी भगवान् रक्षा करते हैं, उसे कोई किसी भी प्रयत्न

से मार नहीं सकता। दैव की गति को कोई पुरुषार्थ द्वारा अन्यथा नहीं कर सकता। चन्द्रहास का अशुभ लक्षण जाता रहा। छठी उँगली कट जाने से उसके भाग्योदय का समय आ गया। वह घोर जङ्गल में अकेला अचेत अवस्था में पड़ा था। बहुत से पक्षी अपने पङ्खों को फैलाकर उसकी छाया कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से मृगया करते हुए कुलिंदनरेश वहाँ आ पहुँचे।

किसी मृग का पीछा करते हुए वे अपने सैनिकों और साथियों से बिछुड़ गये थे। अत: वे अकेले ही थे। घोर जङ्गल में उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बालक को पक्षियों से घिरा हुआ देखा। पक्षी उसके ऊपर अपने पङ्खों से छाया कर रहे थे। राजा उस बालक के ऐसे तेज को देखकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने सोचा—"बाल्यकाल में ही जब इसका ऐसा प्रभाव है तो बड़े होने पर तो न जाने यह क्या करेगा।"

कुलिन्द नरेश कुन्तल नरेश के मण्डलीक करद राजा थे, उनके कोई सन्तान नहीं थी, अरण्य में इस बालक को देखकर उनका चित्त स्वत: ही इसकी ओर आकर्षित हो गया। जब जैसा होना होता है वैसी ही लोगों की बुद्धि हो जाती है। चन्द्रहास का अब अभ्युदय का समय आ गया था। राजा उसे बड़े सत्कार से अपने घर ले गये। रानी इस इतने रूप लावण्य युक्त सुन्दर सुकुमार बच्चे को पाकर परम प्रसन्न हुई और दोनों ने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। समस्त प्रजा में बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया। राजा-रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। राजमहल में रहकर चन्द्रहास शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। वह बाल्यकाल से ही साधु सेवक तथा भगवद्भक्त था। अत: सर्वत्र उसकी भक्ति की ख्याति हो गई। चारों दिशाओं से सन्त महात्मा और पण्डितगण आ आकर उसे दर्शन देने लगे। वह भी तन से, मन से तथा धन से सबकी यथोचित सेवा करता। फिर क्या था, अब तो सर्वदा साधु सन्तों की भीड़ ही लगी रहने लगी। सर्वत्र कथा कीर्तन की धूम सी

मची रहती, नित्य ही उत्सव-सा होता रहता।

कुलिन्द नरेश अपने पुत्र के ऐसे व्यवहार से फूले नहीं समाते थे। जितना ही चन्द्रहास अधिक व्यय करता, उतना ही उन्हें हर्ष होता। इसी कारण कई वर्षों से कुलिन्द नरेश के यहाँ से 'राज्यकर' न जा सका।

एक दिन महामंत्री धृष्टबुद्धि ने राजा से कहा—"प्रभो! हमारे सभी मण्डलीक राजा नियत समय पर कर भेज देते हैं। किन्तु कुलिन्द नरेश ने इधर कई वर्षों से वार्षिक कर नहीं भेजा। आज्ञा हो तो उस पर चढ़ाई करके उसे बन्दी बना लाऊँ। मेरी पुत्री भी अब सयानी हो गई हैं। उधर से ही मैं उसके लिये कोई वर भी खोज लाऊँगा।"

कुन्तल नरेश धर्मात्मा थे, उन्होंने सुन रखा था कि आज कल कुलिन्द नरेश बड़ा दान पुण्य करते हैं, उन्होंने किसी लड़के को भी दत्तक पुत्र बना लिया है। अत: वे अपने प्रधान मंत्री से बोले—"मंत्रीजी! यदि कोई व्यसन में पड़कर राज्यकर न देता, तब तो उसके ऊपर चढ़ाई करना उचित भी था। वह तो साधु सेवा ही करता है। अत: तुम सेना लेकर उसकी राजधानी को घेर लो, केवल डरा धमका कर उससे थोड़ा बहुत कर ले आओ। उसे कोई क्षति मत पहुँचाना।"

हमने सुना है राजा ने कोई पुत्र गोद लिया है, "यदि वह योग्य हो तो उसे युवराज भी बना देना और वह तुम्हारी पुत्री के योग्य वर हो तो इसका भी ध्यान रखना।"

राजा की ऐसी आज्ञा पाकर धृष्टबुद्धि चतुरंगिणी सेना लेकर सदल बल कुलिंद देश की राजधानी पर चढ़ गया। उसने राजा के किले को घेर लिया और युद्ध का बाजा बजाया।

कुलिंद नरेश पहिले से ही डटे हुए थे। वे जानते थे धृष्टबुद्धि कितना क्रूर मंत्री है, यदि वह युद्ध करेगा तो मैं इससे पार न पा सकूँगा, अत: चन्द्रहास के हाथों बहुत सी भेंट का सामान

धृष्टबुद्धि के समीप भेजा और अपने अपराध के लिये क्षमा चाही।''

धृष्टबुद्धि तो यह चाहता था, उसे युद्ध करने की तो राजा की ओर से आज्ञा ही नहीं थी। कुलिंद नरेश के इस व्यवहार से वह प्रसन्न हो गया। चन्द्रहास को देखते ही वह भौचक्का हो गया उसे बार-बार सन्देह होने लगा कि हो न हो यह लड़का वही है। १२ वर्ष में चन्द्रहास १८ वर्ष का युवक हो गया था। उसकी आकृति बदल गई थी। महामंत्री ने राजा को बुलाया और बड़े स्नेह से कहा—''राजाजी! मैंने तो वैसे ही धमकी दी थी। आपने कई वर्षों से कर नहीं भेजा था। अस्तु, कोई बात नहीं आप जितना दे सकें कर दे दें। शेष को मैं महाराज से कहकर क्षमा करा दूँगा। आपने यह कुमार कहाँ से दत्तक बना लिया है?''

मंत्री के पूछने पर राजा ने सब समाचार सचसच बता दिया कि इस प्रकार मैं आखेट के लिये गया, वहाँ पक्षियों से घिरा मुझे यह बालक मिला इसकी एक उँगली कटी हुई थी, उसमें से रक्त बह रहा था, मैं इसे ले आया। लकड़ा कुलीन है, होनहार है, मैंने इसे दत्तक बना लिया, अब आप महाराज से कहकर इसे युवराज बनवा दें, जिससे यह राज्य का अधिकारी हो सके।''

धृष्टबुद्धि तो यह सुनकर मन-ही-मन जल गया। उसकी ईर्ष्या बुद्धि जागृत हो गई। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया इस दुष्ट को जैसे ही तैसे मरवा देना चाहिये। अब खुलकर कैसे मरवा सकता था। अत: उसने अपने मनोगत भावों को छिपाकर ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—''बहुत अच्छी बात है, बालक बड़ा सुशील योग्य और होनहार है। मैं अपने पुत्र के नाम का एक पत्र देता हूँ, इसे लेकर यह अकेला चला जाय। वहां हमारा पुत्र महाराज के सम्मुख इसे उपस्थित करा देगा। महाराज इसे युवराज स्वीकार कर लेंगे और सम्भवतया करद राजा के स्थान में स्वतन्त्र राजा बना देंगे।''

भोले भाले राजा को मन्त्री के कपट का कुछ पता ही नहीं

था। उन्होंने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। मंत्री ने अपने पुत्र के नाम एक गुप्त पत्र लिखा। जिसमें एक ही यह श्लोक था।

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे।
कार्यकार्य न कर्तव्यं कर्तव्यं किल में प्रियम्।।

इसका अर्थ यह हुआ कि हे पुत्र मदन! इस शत्रु को तू तत्काल विष दे देना। इसमें कर्त्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना कि इस समय न दें। तुम मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य ही कर देना।''

इस प्रकार पत्र लिखकर उसे लिफाफे में बन्द करके शील मुहर लगाकर उस पर मदन का नाम लिखकर चन्द्रहास को दे दिया और कह दिया, तुम प्रातःकाल उठकर चले जाना दोपहर तक पहुँच जाओगे। मेरा पुत्र जब तक जाने को न कहे तब तक तुम आना मत वहीं रहना।''

महामंत्री की बात सुनकर राजसीय वस्त्रालंकारों से सजबज कर चन्द्रहास अपने सुन्दर सफेद घोड़े पर चढ़कर कुन्तलपुर की ओर चला। वह एक तो स्वभाव से ही सुन्दर था, फिर आज राजदरबार में जाने के निमित्त उसने सावधानी से श्रृङ्गार किया था। युवावस्था का लावण्य उसके मुख मण्डल से फूट-फूटकर निकल रहा था। वह कामदेव के समान लगता था, उसके अंग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य झाँक रहा था। मूर्तिमान सौन्दर्य के समान प्रतीत होता था। चलने से उसे दोपहर हो गया। गरमी के दिन थे। मार्ग श्रम से वह श्रमित हो गया था, प्यास भी लगी थी, समीप ही उसे एक सुन्दर पुष्पवाटिका दिखाई दी। स्वच्छ जल से भरी वहाँ एक बावड़ी भी थी। एक बड़े पेड़ की डाल में उसने अपना घोड़ा बाँध दिया। बावड़ी में घुस कर उसने हाथ पैर धोये, पेट भरकर जल पिया और वहीं समीप के वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिये यों ही लेट गया। मार्ग का थका हुआ तो था ही। लेटते ही उसे गहरी निद्रा आ गई और वह सो गया।

वह वाटिका महामंत्री धृष्टबुद्धि की ही थी। संयोग की बात

कि उस दिन महामंत्री की प्यारी पुत्री विषया सखी सहेलियों के साथ क्रीड़ा करने आई थी। उसकी सखी सहेली तो इधर-उधर जल विहार तथा नाना क्रीड़ायें करने लगीं। वह अकेली घूमती-घामती वहीं आ पहुँची जहाँ पर चन्द्रहास सो रहा था।

विषया ने १४ वें वर्ष को पार करके १५ वें वर्ष में पदार्पण किया था। यौवन उसके साथ अठखेलियाँ कर रहा था यद्यपि वह उसकी अव्यक्त प्रेरणा के कारण संकेत पर नाचने को विवश थी। उसके अल्हड़पन में मादकता थी, नेत्रों में चंचलता बढ़ गई थी, हृदय किसी के लिये छटपटा रहा था—अन्तःकरण से एक अव्यक्त हूक-सी निकलती थी और वह उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिरहन-सी उत्पन्न कर देती थी। दूर से ही उसने कामदेव के समान साकार सौन्दर्य स्वरूप उस युवक को वृक्ष की छाया में बिना शैया के भूमि पर पड़े देखा। करुणा, स्नेह, उत्सुकता और अनेक भावों के एक साथ उदय हो जाने से बिना संकल्प के ही उसके समीप आ गई।

युवक गहरी नींद में सो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानों पूर्ण चन्द्र में दो कमल मुँदे हुए हैं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य की किरणें निकलकर उस पुष्प वाटिका को आलोकित कर रही थीं। युवक को कुछ भी पता नहीं था कि मेरी सौन्दर्य सुधा को छिपकर कौन निश्चिन्तता के साथ पान कर रहा है। उसके मुख मण्डल को देखते-देखते विषया की दृष्टि उसके मुकुट की पग के छोर में बँधे एक पत्र पर पड़ी। यों ही कुतूहलवश उसने शनैः-शनैः उस पत्र को खोला। देखते ही उसे महान् आश्चर्य हुआ। उस पर उसके पिता की अँगूठी की छाप है।

जाने के पूर्व धृष्टबुद्धि अपनी स्त्री से कह रहा था, विषया अब बड़ी हो गई, इस वर्ष इसका विवाह अवश्य कर देना है। मैं कलिंग देश की ओर जा रहा हूँ, उधर कोई योग्य वर मिल जायगा तो पक्की कर आऊँगा। माता पिता में जब ये बातें हो रहीं थीं, तब

विषया छिपकर उन सब बातों को सुन रही थी। सहसा अपने पिता की छाप देखकर उसे वे सब बातें स्मरण हो आईं। अब तो उसकी उत्सुकता और भी बढ़ी। पिताजी ने मेरे लिये कौन-सा वर चुना है। यदि इसे ही पिताजी ने मेरे लिये भेजा हो तो मेरा जीवन सफल हो जाय। यदि इसके अतिरिक्त किसी के साथ पिताजी ने तय किया हो तो मैं अभी हीरा की कनी खाकर यहीं प्राण दे दूँगी।''

यही सब सोचकर उसने शनैः-शनैः उस पत्र के आवरण को खोला। उसमें लिखा था—

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे।
कार्याकार्य न कर्तव्यं कर्तव्यं किल में प्रियम्।।

विषया ने एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, तीन बार पढ़ा। उसकी समझ में ही न आया कि मेरे पिता इस इतने सुन्दर सुकुमार को विष देने को क्यों कहेंगे। फिर उसने सोचा—''अरे लिखने में भूल हो गई। वे 'विषयास्मै प्रदातव्यं त्वया मदनशत्रवे' यह लिखना चाहते थे। लाओ पिता की भूल को मैं ही सुधार दूँ। यह सोचकर उसने अपने नख से नेत्रों में लगे काजल से 'म' को 'या' बना दिया और मदन और शत्रवे जो दो पृथक्-पृथक् शब्द थे उन्हें एक में मिलाकर समासान्त पद बना दिया। अब इसका अर्थ हो गया—कि कामदेव को भी अपने सौन्दर्य से तिरस्कृत करने वाले इस युवक को विषया दे देना। अर्थात् इसके साथ विषया का विवाह कर देना। इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना। मेरी प्रसन्नता के लिये इस काम को शीघ्र ही सम्पन्न कर देना।

इस प्रकार बनाकर पत्र को ज्यों-का-त्यों चिपकाकर उसने युवक की पगड़ी में बाँध दिया और वहाँ से चली गई। कुछ काल के पश्चात् युवक की निन्द्रा भङ्ग हुई। वह तुरन्त उठा और घोड़े पर चढ़कर चल दिया। घर तो उसका देखा हो हुआ था। वह जाकर महामंत्री के पुत्र मदन से मिला। चन्द्रहास को राजकुमार के वेष में देखकर मदन को बड़ी प्रसन्नता हुई। मदन बहुत ही सज्जन और

प्रेमी युवक था। अपने पिता के पत्र को पढ़कर उसे अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने तुरन्त अपने पुरोहित को बुलाया और विषया का विवाह का मुहूर्त पूछा।

पुरोहित ने कहा—"कल ही सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त है, आपके पिता की आज्ञा है कि तुरन्त यह मेरा प्रिय कार्य हो जाना चाहिये। अतः विवाह तो कल हो जाय, उत्सव आदि पीछे पिता के आने पर होता रहेगा।"

मदन तो यह चाहते ही थे। उन्होंने तुरन्त सब प्रबन्ध किया, दूसरे दिन विषया का चन्द्रहास के साथ बड़ी धूम-धाम से विवाह हो गया।

इधर मंत्री ने समझा चन्द्रहास मर गया होगा। अतः वह अपनी सेना को साथ लेकर कुन्तलपुरी में लौट आया। ज्यों ही महामंत्री ने नगर के भीतर प्रवेश किया त्यों ही सूत, मागध, बन्दी, भिक्षुक तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसकी जय-जयकार की और पुत्री के सुन्दर वर मिल जाने के उपलक्ष्य में बधाई दी।

धृष्टबुद्धि तो आश्चर्यचकित रह गया। उसकी समझ में ही यह बात न आई कि मेरी पुत्री को वर कब और कैसे मिल गया। उसने अपने कुल पुरोहित से पूछा—"पुरोहितजी! बात क्या है?"

पुरोहित ने कहा—"अन्नदाता! कल भाग्यवती विषया का बड़ी धूम-धाम से पाणिग्रहण संस्कार हो गया। चिरञ्जीव मदन ने सभी को यथेष्ठ दान दक्षिणा दी। सभी उनकी उदारता से परम सन्तुष्ट हुए। यह सब आपके पुण्य का प्रताप है।"

यह सुनकर मंत्री तो किङ्कर्तव्यविमूढ़ बन गया। महलों में पहुँचा तो सभी ने उसे प्रणाम किया। चन्द्रहास भी अपनी नववधू विषया के सहित अपने श्वसुर के चरणों में प्रणाम करने दास-दासियों से घिरा हुआ आया। धृष्टबुद्धि ने ऊपर मन से दोनों को आशीर्वाद दिया, किन्तु उसके भीतर-ही-भीतर प्रबल द्वेषाग्नि धधक रही थी। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि चाहे मेरी पुत्री

विधवा भले बन जाय, इस शत्रु का तो मैं अन्त कर ही डालूँगा। इसे मैं जीवित छोड़ूँगा नहीं।''

यह सोचकर उसने बधिकों को बुलवाया और कह दिया कि सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि में जो भी भद्रकाली के मन्दिर में पूजन की थाली लेकर आवे उसका सिर धड़ से काटकर तुम लोग चले आना।''

बधिक तो नौकर ही ठहरे, उन्होंने स्वीकार किया। इधर धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास को बुलाकर कहा—''देखो, हमारे यहाँ एक लोकाचार है, विवाह के दूसरे दिन जामाता अकेला जाकर भद्रकाली की विधिवत् पूजा करता है। अतः तुम सूर्यास्त के पश्चात् बिना किसी से कहे भद्रकाली के मन्दिर में चले जाना। वहाँ भद्रकाली की पूजा करके कुछ देर स्तुति विनय करके लौट आना। चन्द्रहास के मन में तो छल-कपट की बात थी ही नहीं। सूर्यास्त होते ही वह चुपके मन्त्री के दिये हुए थाल को लेकर अकेले ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया। भद्रकाली का मन्दिर दूर अरण्य में था। फिर भी मन्त्री की आज्ञा से वह पैदल ही जा रहा था।

इधर कुन्तलनरेश से जाकर लोगों ने महामन्त्री के भाग्य की बड़ी सराहना की और चन्द्रहास के शील स्वभाव सौन्दर्य और सरलता की राजा से बड़ी भारी प्रशंसा की। राजा के मन में यह बात आई कि देखो, मन्त्री को मैंने अपनी पुत्री के लिये वर खोजने के लिये भेजा था। मेरी लड़की सयानी हो चुकी है। मेरे कोई पुत्र भी नहीं। शीघ्र ही मैं इसका विवाह करके कुछ भगवत् भजन करना चाहता हूँ, मन्त्री अभी तक मेरे पास आये नहीं।'' सहसा उसी समय चिरञ्जीवी भगवान् लोमष ऋषि वहाँ आ पहुँचे।

मुनि को देखकर महाराज ने उनका श्रद्धा सहित स्वागत-सत्कार किया। शास्त्रीय विधि से पूजा की, दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने पर राजा ने अपनी पुत्री को बुलाकर उससे ऋषि के चरणों में प्रणाम कराया और फिर हाथ जोड़कर कहने लगे—

"ब्रह्मन्! मैं बूढ़ा हो गया हूँ। यही पुत्री मेरी एकमात्र सन्तान है। मैं चाहता हूँ कोई योग्य वर मिले तो उसके साथ इसका विवाह करके राज्यभार उसे सौंपकर मैं भगवान् की आराधना करूँग। आप यह बतावें कि अभी मेरी कितनी आयु शेष है?"

सर्वज्ञ मुनि ने ध्यान लगाकर देखा और फिर कहने लगे—"राजन् आपकी आयु तो समाप्त हो गई। केवल कल तक ही आयु और शेष है।"

यह सुनकर राजा तो अत्यन्त घबराये और कर्तव्यविमूढ़ से बने अत्यन्त शोक और दु:ख के साथ कहने लगे—"ब्रह्मन्! मैंने तो अभी तक कुछ भी नहीं किया। मेरी इस बच्ची का पीछे कौन विवाह करेगा, कौन इसके लिये योग्य वर खोजेगा? कौन इतने बड़े राज्य को संभालेगा। अभी तक मैंने भगवान् का भजन भी नहीं किया, संसार से छूटने के लिये कोई साधन भी नहीं किया। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।"

इस पर लोमश ऋषि ने धैर्य बँधाते हुए कहा—"राजन्! आप चिन्तित न हों, भक्त भयहारी भगवान् वासुदेव सभी का कल्याण करते हैं। उनके बनाये हुए विधान अन्यथा नहीं होते। आपके राज्य का अधिकारी और इस कन्या के सर्वथा अनुरूप वर इस राजधानी में स्वत: ही आ गया है। जिस चन्द्रहास के साथ महामन्त्री की कन्या का विवाह हुआ है। वही आपकी कन्या का भावी पति है, उसी के साथ आपकी कन्या का विवाह होगा। वही इस राज्यभार को संभाल सकता है। वह सर्वथा इसके योग्य है। इसी समय शुभ लग्न है, आप उसे बुलाकर अभी विवाह करा दें। लग्न हाथ से न जाने पावे। राज्याभिषेक प्रात: कर देना।"

यह सुनकर राजा की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा, मन्त्री का पुत्र मदन राजा के समीप ही बैठा था। अभी तक न मदन को पता था कि मन्त्री लौटकर आये हैं और न राजा को। अत: राजा ने मदन से कहा—"तुम अभी शीघ्रगामी रथ लेकर चले जाओ और

अपने बहनोई को बुला लाओ। तब तक मैं कन्यादान की सब सामग्री एकत्रित कराता हूँ। देखो, सावधान, लग्न न निकलने पावे।''

महाराज की आज्ञा पाकर मदन के हर्ष का तो ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा—''अब तो राज्य हमारे घर में ही आ रहा है। यही सब सोचकर वह शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर अपने भवन की ओर चला। संयोग की बात कि उधर से ही पूजा की सामग्री का थाल लिये चन्द्रहास जा रहा था। दूर से ही अपने बहनोई को हाथ में थाल दिये पैदल आते देखकर विस्मत के साथ मदन ने पूछा—''आप कहाँ जा रहे हैं?''

चन्द्रहास ने कहा—''पिताजी अभी लौटकर आये हैं, उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि हमारे यहाँ यह कुल परम्परा की लौकिक रीति है कि विवाह के अनन्तर भद्रकाली का पूजन किया जाय। इसीलिये मैं पूजन करने जा रहा हूँ।''

मदन ने हँसते हुए कहा—''बिना ही पूजन के आपका भाग्योदय हो रहा है। महाराज आपको अभी इसी समय बुला रहे हैं, रही पूजन की बात सो, यह तो लौकिक रीति है, आपकी ओर से मैं ही पूजन कर आऊँगा। आप तुरन्त इस रथ पर चढ़कर राजभवन में जायँ। देरी करने का काम नहीं है।'' यह कहकर मदन ने चन्द्रहास को तो रथ पर बिठा दिया और स्वयं पूजन की सामग्री लेकर अकेला ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया।

चन्द्रहास रथ पर बैठकर राजभवन में गया। राजा द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें पल-पल भारी हो रहा था। वे अपनी पुत्री का विवाह अपनी आँखों से देखना चाहते थे। उन्हें भय था महामुनि की बताई लग्न निकलने न पावे। ज्यों ही चन्द्रहास ने पहुँचकर राजा के चरणों में प्रणाम किया,त्योंही उन्होंने शीघ्रता से उसे उठाकर अपने हृदय से चिपका लिया चन्द्रहास के शील स्वभाव, सदाचार, रूप, लावण्य तथा भव्य आकृति को देखकर राजा

अत्यधिक प्रसन्न हुआ। चन्द्रहास ने महामुनि लोमषजी के चरण पकड़े। ब्राह्मणों ने वेदध्वनि की। विवाह के बाजे बजने लगे। पुण्याहवाचन की सुमधुर ध्वनि से राजमहल गूँजने लगा। रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे वर के मुख को देखते-देखते अघाती ही नहीं थीं। जितनी सुन्दरी राजकुमारी थी, उससे भी सुन्दर चन्द्रहास था। दोनों की अनुपम जोड़ी को देखकर माता, पिता, मुनि, परजन तथा अन्य सभी मंत्री पुरोहित अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। शास्त्रीय विधि के साथ राजकुमारी का चन्द्रहास के साथ विवाह हो गया। प्रातः मङ्गल कृत करके राजा ने चन्द्रहास को अपना मुकुट पहिना दिया और समस्त राज भार उसे सौंपकर मुनि की आज्ञा लेकर वन को चले गये।

इधर मदन पूजन की सामग्री लेकर ज्यों ही भद्रकाली के मन्दिर में घुसा, त्यों ही महामन्त्री के नियुक्त बधिकों ने उसका सिर धड़ से उतार लिया और उसे वहीं मरा छोड़कर चले आये और आकर यह समाचार महामन्त्री को सुना दिया। मन्त्री को पहिले घटना से सन्देह था कि सम्भव है ये बधिक उसे छोड़ न आये हों। इस बात की परीक्षा लेने वह अकेला भद्रकाली के मन्दिर की ओर चला। वहाँ जाकर जो उसने देखा उससे तो उसका हृदय फटने लगा। उसने देखा उसका प्यारा पुत्र मरा पड़ा है। इतने में ही कुछ लोगों ने आकर महामन्त्री का जय जयकार किया और अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अन्नदाता! आप यहाँ अकेले क्यों खड़े हैं। महाराज ने तो आपके जामाता के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया है उन्हें राज्यभार सौंप रहे हैं। हम अभी दान दक्षिणा लेकर आ रहे हैं।"

यह सुनकर धृष्टबुद्धि को तो बड़ी चोट लगी। उसने सोचा—"मेरे जीवन को धिक्कार है, जिसे मैं मारना चाहता था वह राजा बन गया, मेरा प्राणों से प्यारा पुत्र मर गया। अब मैं जीवित रहकर क्या करूँगा।" यह सोचकर उसने लोगों को तो विदा कर

दिया। और स्वयं खड्ग से आत्महत्या करके मर गया। पिता पुत्र दोनों के मृतक देह भद्रकाली के आँगन में पड़े थे, किवाड़ें लगी थीं।

प्रात:काल जब राजगद्दी का कार्य समाप्त हो गया तो अपनी नवीन पत्नी को लेकर चन्द्रहास अपने पितृस्थानीय श्वसुर धृष्टबुद्धि को प्रणाम करने गाजे-बाजे के साथ महामन्त्री के भवन की ओर चले। वहाँ पहुँचकर उसे पता चला न तो धृष्टबुद्धि ही है, और न मदन ही। इतने में ही बहुत से लोगों ने आकर चन्द्रहास को सूचना दी—"प्रभो! रात्रि में किसी ने महामन्त्री की और मन्त्री पुत्र की हत्या कर दी। दोनों ही भद्रकाली के मन्दिर में कटे हुए पड़े हैं।" इतना सुनते ही चन्द्रहास के दु:ख का ठिकाना न रहा वह रोता चिल्लाता भद्रकाली के मन्दिर की ओर चला।

मन्दिर में पहुँचकर उसने अपने श्वसुर और साले दोनों को मरे हुए देखा। उसने रो-रोकर बड़े ही करुण स्वर में भद्रकाली की स्तुति की। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर भद्रकाली प्रकट हुई और बोलीं—"वत्स! मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम तो भगवान् के भक्त हो। भगवत् भक्तों से द्वेष रखने वाले का कभी कल्याण नहीं होता। यह धृष्टबुद्धि तुमसे हृदय से द्वेष करता था, इससे यह स्वयं ही मारा गया। यद्यपि मदन तुमसे द्वेष नहीं करता था, फिर भी शत्रु का पुत्र होने से वह भी मारा गया। अब तुम मुझसे जो माँगना चाहो वह माँग लो।"

भद्रकाली की बात सुनकर चन्द्रहास ने कहा—"माताजी! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और वर देना ही चाहती हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे श्वसुर, साले जीवित हो जायँ और मेरे श्वसुर का अन्त:करण शुद्ध हो जाय, इनके मन से द्वेष के भाव नष्ट हो जायँ।"

चन्द्रहास के ऐसे निष्कपट भाव को देखकर भद्रकाली और भी अधिक सन्तुष्ट हुईं। तुरन्त ही दोनों का सिर धड़ से जुट गया

और वे इस प्रकार उठकर खड़े हो गये जैसे निद्रित पुरुष निद्रा के भंग होने से उठकर खड़ा हो जाता है। धृष्टबुद्धि का अन्तःकरण पवित्र हो गया था, उसने जब सामने चन्द्रहास को खड़े देखा तो दौड़कर उसे छाती से चिपटा लिया। दहाड़ मारकर वह रोने लगा। रोते-रोते उसने अपने अश्रुओं से चन्द्रहास के राज्याभिषेक के अभिमन्त्रित जल से भीगे हुए बालों को और भी अधिक गीला कर दिया। उसे अश्रुओं से न्हिला दिया। आज श्वसुर दामाद प्रेमपूर्वक मिले। मदन ने भी श्रद्धा सहित चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। प्रजा के लोगों ने चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। सबने एक स्वर से उसे अपना सम्राट् मान लिया। समाचार सुनते ही कुलिन्द देश के राजा रानी दौड़े आये अपने पुत्र को राज्य सिंहासन पर बैठे देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। धृष्टबुद्धि भी अपने जमाता को आशीर्वाद देकर मन्त्री पद त्यागकर तपस्या करने वन में चला गया। उनके स्थान पर मदन महामन्त्री हुए। दोनों साले बहनोई मिलकर धर्मपूर्वक कुलिन्द और कुन्तल देशों का पालन करने लगे। इसीलिये किसी ने सच कहा है—

जिन पाँइन पनहीं नहीं, उन्हें देत गजराज।
विष देते विषया मिली, राम गरीब निबाज।।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपके पूछने पर मैंने यह चन्द्रहास की मनोहर कथा सुनाई। देखिये धृष्टबुद्धि ने उसे मारने के कितने-कितने उपाय किये, किन्तु उसकी मृत्यु नहीं थी इसलिये उसे कोई भी मार नहीं सका। गर्भ की ऐसी कोठरी जहाँ न शुद्ध वायु जा सकती है न अन्न जल। वहाँ भी वे बालक की रक्षा करते हैं तो फिर संसार में सब वस्तुओं के रहते हुए रक्षा क्यों न करेंगे। जिसकी जितनी आयु होती है, उतनी उसे भोगनी पड़ती है। जब जिसकी मृत्यु आ जाती है, तब फिर उसे कौन बचा सकता है। सुयज्ञ पत्नियों से बालक वेषधारी यमराज कह रहे हैं—"हे राज पत्नियों! तुम इस मृतक सुयज्ञ के लिये सोच मत करो। उसकी

इतनी ही आयु थी। वह जीवित नहीं हो सकता।''

इस दृष्टान्त को देकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई की पत्नी और भतीजों को समझा रहा है, कि दैव की गति समझकर तुम लोगों को हिरण्याक्ष के लिये शोक न करना चाहिये।

छप्पय

मारन चाथो धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहासकूँ।
बधिकनि सौंप्यो विविधि करे उद्योग नाशकूँ।।
किन्तु मृत्यु नहिँ भई राज द्वै देशनि पायो।
द्वै द्वै रानी मिली श्वसुरहू मृतक जिवायो।।
विष बदले विषया मिली, भिक्षुकतें राजा भयो।
भयो भाग्य अनुकूल जब, तब सब बानिक बनि गयो।।

दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है

(४५३)

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितम्
गृहे स्थितं तद् विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो बने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति।।☆

(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

पुरुष बली नहिँ होहिँ दैव ई बली कहावे।
जैसे होनो होइ दैव तस बुद्धि बनावै।।
नष्ट होंनको समय जासुको अबई नाई।
अति करकें पुरुषार्थ सकें नहिँ लोग नसाई।।
गिरी गैलमें वस्तु हू, ज्यों की त्यों रहि जायगी।
नष्ट होन को यदि समय, तो धरमहँ नसि जायगी।।

भगवान् को अमोघ संकल्प कहा गया है। मनुष्य बहुत-सी इच्छायें करता है, उनमें से कुछ पूरी हो जाती हैं, कुछ पूरी नहीं भी होतीं, किन्तु भगवान् की इच्छा और पूर्ति दो वस्तु नहीं। उनकी जो इच्छा हुई उसे पूरी ही समझो। इस सम्पूर्ण जगत की रचना प्रभु

☆ *बालक सिद्धान्त की बात कह रहा है—"देखो, यदि देव द्वारा कोई वस्तु रक्षित है तो उसे मार्ग में डाल दो ज्यों-की-त्यों पड़ी रहेगी और यदि उसके नाश का समय आ गया है तो घर में भी कितनी भी सुरक्षा से रखो वहाँ भी नष्ट हो जायगी। भगवान् की जिन पर दया दृष्टि है अर्थात् जिनका काल नहीं आया है उसे चाहे वन में अनाथ करके छोड़ दो, वहाँ भी जीवित रहेगा। यदि उसका काल आ गया है तो घर में कितनी भी सावधानी से रखो, वहाँ भी मर जायेगा।"*

खेल-खेल में इच्छा मात्र से ही करते हैं। इसमें उन्हें न कुछ श्रम है न आयास। यह चराचर विश्व प्रभु की इच्छा के ही ऊपर अवलम्बित है। जैसे वाटिका के चतुर माली की सभी वृक्षों पर दृष्टि रहती है। कौन कितना बढ़ रहा है, किसकी कब कलम करनी होगी, कब किसे कहाँ से उठाकर कहाँ रखना होगा। कब किसमें खाद देनी होगी, कब पानी से सींचना होगा। वह सबका बड़ी सावधानी से पालन-पोषण करता है। उसमें भूल नहीं होने देता। माली के काम में चाहे भूल हो भी जाय, किन्तु भगवान् के कामों में कभी भूल नहीं होती। उनका यह अखण्ड क्रीड़ामय व्यापार निरन्तर प्रवाह रूप से चलता रहता है। इसका आदि नहीं, अन्त नहीं। आदि काल से यह इसी प्रकार व्यवस्थित रूप से चल रहा है। जो इस व्यवस्था के रहस्य को समझ जाते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं उन्हें किसी भी घटना से हर्ष विषमय नहीं होता। वे समझते हैं यह घटना तो होनी ही थी, क्योंकि प्रभु इच्छा बिना कोई घटना घटित नहीं होती। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे सबको नूतन और अकस्मात हुई घटना समझकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी सुखी होते हैं, कभी दुखी होते हैं। यही अज्ञान है, यही मूर्खता है।

बालक उन सुयज्ञ की रानियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, अबलाओ! तुम रोओ मत। सबके रक्षक वे श्रीहरि ही हैं। अब यह मृतक शरीर तुम्हारी क्या रक्षा कर सकेगा। वे अच्युत अज अविनाशी श्रीहरि अपनी इच्छा मात्र से ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करते हैं। स्वयं ही रचकर इसका पालन भी करते हैं और जब इच्छा होती है, तब "मनुआमरि गयो, खेल बिखर गयो।" कह-कहकर इसका संहार भी करते हैं। यह चराचर विश्व उनका खिलौना है। उनके मनोरंजक का, खेलने का एक साधनमात्र है। जैसे बच्चा गेंद को जब चाहे बना सकता है, जब चाहे फाड़-फूड़

कर फेंक सकता है, बनाने और नाश करने में जैसे बालक स्वतन्त्र है वैसे श्रीहरि इसके उत्पत्ति, पालन और संहार में सर्वथा स्वतन्त्र हैं सर्व प्रकार से समर्थ हैं।''

इस पर राजा के पुरोहित ने पूछा—''बच्चे! तुम तो बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कह रहे हो। यह बताओ कि कोई अपने पुरुषार्थ से किसी की मृत्यु को नहीं टाल सकता? किसी नष्ट होने वाली वस्तु को नहीं बचा सकता?''

इस पर बालक ने कहा—''पुरोहितजी! पुरुषार्थ वहीं काम देता है, जहाँ प्रारब्ध अनुकूल होता है। जिस काम में दैव विपरीत है, वहाँ पुरुषार्थ विफल हो जाता है। फिर भी पुरुषार्थ तो निरन्तर करते ही रहना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ करने से ही प्रारब्ध का पता चलता है कि यह वस्तु हमारे भाग्य में है या नहीं। महाराज! सब वस्तुओं की अवधि बनी होती है। जितने दिन जिस वस्तु की अवधि है, उतने दिनों तक उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। चाहे उसे चौराहे पर डाल दो, पैरों से कुचल दो। वहाँ भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। इसके विपरीत जिनके नष्ट होने का समय आ गया है उसे ७ तालों के भीतर बन्द करके रख दो तो भी वह वहाँ नष्ट हो जायगी। जिसका जीवन शेष है, उसे चाहे सिंह व्याघ्रों में जाकर छोड़ दो वहाँ भी वह जीवित रहेगा। जिसका जीवन शेष नहीं, उसे चाहे सात ड्योढ़ियों में सुरक्षित रखकर पुष्पों की शैय्या पर सुला दो वहीं वह मर जायगा। देखो, अकृतव्रणजी की भगवान् ने कैसे रक्षा की।''

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—''सूतजी, अकृतव्रणजी की किस विपत्ति से भगवान् ने कैसे रक्षा की, इस कथा को आप उचित समझें तो हमें सुनावें।''

यह सुनकर सूतजी बोले—''मुनियो! यह अद्भुत पौराणिक

आख्यान है। यह त्रेतायुग की बात है, उन दिनों प्रायः सभी ब्राह्मण अपने स्वधर्म में निरत रहकर तप स्वध्याय में संलग्न रहते थे। उन्हीं दिनों एक बड़े सुशील शान्त दान्त मुनि एक अरण्य में अपनी स्त्री के सहित पर्णकुटी में तपस्या करते थे। उनके एक बड़ा सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसे सुन्दर पुत्र का मुख देखकर मुनि दम्पत्ति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। एक दिन सायंकाल के समय मुनि सन्ध्या में निरत थे, मुनि पत्नी नदी तीर जल लेने गई थी। इतने में ही एक भेड़िया आया। वह बच्चे को उठा ले गया। मुनि ने जब देखा तो उसके पीछे दौड़े, किन्तु उनका परिश्रम सब व्यर्थ हुआ। भेड़िया उस अबोध बालक को लेकर भाग गया। उस बालक की अभी मृत्यु नहीं थी। अतः भेड़िया के मन में कुछ दया आ गई। उसने ले जाकर अपनी पत्नी को उस बालक को दे दिया। वह उसे अपनी गुफा में रखकर उससे खेलने लगी। अपने पुत्रों के साथ पुत्रवत् उसे भी प्यार करने लगी। भेड़िया जो जीवों को मारकर लाता उसका मांस उस बच्चे को खिलाता। अब तो बच्चा उसके सभी बच्चों में हिलमिल गया। हाथ पैर से भेड़िया के बच्चों की भाँति चलने लगा। और भेड़िया की-सी ही भाषा बोलने लगा।

एक दिन भगवान् परशुरामजी उधर से जा रहे थे। उन्होंने जब एक मनुष्य बालक को भेड़िया के बच्चों के साथ पशुओं की भाँति चलते और उनका-सा ही आचरण व्यवहार करते देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। आगे बढ़कर उन्होंने उस बच्चे को पकड़ लिया। जिन्होंने २१ बार अपने एक ही फरसे से समस्त भूमण्डल के क्षत्रियों का संहार कर दिया था, उनके सम्मुख भेड़िये क्या ठहर सकते हैं। भेड़िये डरकर भाग गये। मुनि इस बच्चे को लेकर अपने आश्रम पर चले आये।

भगवान् परशुराम जी ने देखा, बच्चा इतने दिन भेड़ियों में

रहा, किन्तु उन्होंने इसके अंग में एक भी व्रण (घाव) आदि नहीं किया। इसे किसी प्रकार का कष्ट नही दिया। इसीलिए उसका नाम "अकृतव्रण" रख दिया।

ये महात्मा अकृतव्रण बड़े ही तेजस्वी तपस्वी और भगवान् परशुरामजी के एकनिष्ठ अनुयायी रहे हैं। जब भगवान् परशुराम जी ने भीष्म पितामह से युद्ध किया था, तब उनके रथ को ये ही हाँकते थे।

सूतजी कहते हैं—"महाराज! अकृतव्रण की आयु शेष थी, अतः भेड़ियों में रहकर भी बचे रहे। इसके विपरीत चित्रकेतु के पुत्र की आयु शेष नहीं थी। कितना प्रयत्न करने पर भी मर गया। अर्जुन ने अभिमन्यु के मारे जाने पर प्रतिज्ञा की थी कि यदि सूर्यास्त तक आज मैं जयद्रथ को न मार डालूँगा तो स्वयं अग्नि में भस्म हो जाऊँगा। इधर द्रोणाचार्य तथा दुर्योधन की ११ अक्षौहिणी सेना ने प्रतिज्ञा की थी कि हम जैसे-तैसे आज जयद्रथ को बचायेंगे।" मुनियो! आप ही सोचें, ११ अक्षौहिणी सेना में आधे दिन तक एक व्यक्ति को छिपाये रखना कौन-सी बड़ी बात है। बड़े-बड़े महारथियों ने अनेकों भाँति के व्यूह बनाकर उसके मध्य में जयद्रय को छिपा दिया था। किन्तु उसका काल आ गया था। काल के भी नियन्ता कृष्ण के मन में सूर्यास्त से पूर्व ही उसे परलोक पहुँचाने का विचार हो गया था, वह सूर्यास्त से पूर्व अर्जुन के बाणों द्वारा मारा गया।

एक नहीं ऐसे हजारों लाखों असंख्यों दृष्टान्त हैं कि अनेकों असुरों ने अमर होने के भाँति-भाँति के वरदान माँगें। वे संसार में अपने को सबसे अधिक बली, महान् पराक्रमी समझते थे, वे भी समय आने पर साधारण लोगों के हाथों मारे गये। इन सब बातों को देखकर यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि जब तक मृत्यु नहीं है, तब तक कोई किसी उपाय से भी किसी को मार नहीं सकता और जिसकी मृत्यु आ गई है, उसकी कोई किसी भी उपाय से रक्षा नहीं कर सकता।

वह ज्ञानी बालक महाराज सुयज्ञ की रानियों तथा सम्बन्धियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, रानियों! इन राजर्षि का काल आ गया था, तभी तो ये शत्रु के हाथों मारे गये, नहीं तो ये तो समर में सदा विजय लाभ ही किया करते थे। समय सब कुछ करा लेता है इसलिये तुम लोग सोच को छोड़ दो, इन राजर्षि की और्ध्वदैहिक क्रिया होने दो। इनके मृत शरीर के साथ मोह करने से, व्यर्थ में शोक करने से क्या लाभ?"

नारदजी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार हिरण्यकशिपु अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों को समझाते हुए सुयज्ञ की कथा सुना रहे हैं।" हिरण्यकशिपु ने कहा—"सुयज्ञ के सम्बन्धियों को उस ज्ञानी बालक ने और भी शोक शान्ति की बातें कहीं, उन्हें भी आप सब लोग एकाग्रचित होकर श्रवण करें।"

छप्पय

व्याघ्र पकरि ले गयो हतो इक मुनि सुत बाकूँ।
आयु शेष कछु हती पुत्रवत पाल्यो ताकूँ।।
व्याघ्रनिमहँ ई रहे संग उनके वन जावै।
हाथ पैरतें चले मांस तिनिके सङ्ग खावे।।
परशुराम नर शिशु निरखि, आश्रमकूँ संग ले गये।
पाल्यो पुनि सुतके सरिस, अकृतव्रण मुनिते भये।।

आत्मा शरीर से भिन्न है

(४५४)

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः।। ✯
(श्री० भा० ७ स्क० २ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

आत्मा है निर्लेप रहे नित पृथक् देहतें।
जैसे गेही रहे भिन्नही सदा गेहतें।।
जलमहँ बुद्बुद् होहिं नहीं ते जल कहलावें।
कनक एक रस रहे हार कंकण मिटि जावें।।
अनल काठतें अलग है, वायु देहतें पृथक् ज्यों।
है असंग नभ सर्वगत, आत्मा हू निर्लेप त्यों।।

जैसे पद्मपत्र सरोवर में ही रहता है, किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा शरीर में स्थित है, किन्तु शरीर के सुख-दुःख, वृद्धि, क्षय, हानि-लाभ, चिन्ता शोक तथा जन्म मरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग देह और आत्मा में भेदभाव नहीं करते, दोनों को एक ही समझते हैं शरीर को ही आत्मा मानकर निरन्तर उसके पालन-पोषण में व्यग्र बने रहते हैं, वे ही अज्ञानी

✯ *सुयज्ञ के सम्बन्धियों को यम समझा रहे हैं—"जैसे अग्नि काष्ठ में व्याप्त होने पर भी उससे पृथक् है। वायु देह में रहने पर भी देह से पृथक् है। आकाश जैसे सर्वत्र व्याप्त होने पर भी निर्लिप्त है, उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण देहादि में रहकर भी उनसे भिन्न हैं।*

कहलाते है। जब मनुष्य को यह बोध हो जाय कि आत्मा का देह के सुख दु:खों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा तो नित्य शाश्वत द्वन्द्वों से पृथक् तथा असंग है। ऐसा जिसे ज्ञान हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। ब्रह्मज्ञानी को हर्ष शोक नहीं होते। एकत्व भावना के कारण वह शोक मोह से सर्वदा रहित बना रहता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता को सम्बोधन करके सबको समझा रहा है—"माँ! वह ज्ञानी बालक सुयज्ञ की पत्नियों को ज्ञानोपदेश करते हुए बोला—"रानियों! आप विचार करें कि आप किसके लिये रुदन कर रही हैं?"

एक रानी ने रोते-रोते कहा—"हमारे पति परलोक प्रयाण कर गये हैं, उनके वियोग में दु:ख होना स्वाभाविक ही है और दु:ख में रुदन प्राय: करते ही हैं।"

उस बालक ने कहा—"यही तो मैं पूछ रहा हूँ कि तुम्हारा पति कौन है? एक तो देह है, एक जीवात्मा है। यदि तुम देह के लिये रुदन कर रही हो तो देह तो तुम्हारे सामने ही पड़ी है। तुम कह सकती हो कि यह तो मृतक शरीर है। इसमें से जीवात्मा तो निकल गया।" जो जीवात्मा तो कभी मरता नहीं। जैसे हम एक वस्त्र को त्यागकर दूसरा वस्त्र धारण कर लेते हैं, वैसे ही जीवात्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करता है। यह शरीर पंचभूतों का बना हुआ है यह अपने कारण रूप लिङ्ग देह के धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि कर्मों के अनुसार समय-समय पर भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न देशों में जन्मता और मरता रहता है। किन्तु शरीर की जनम-मरण क्रिया के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। यद्यपि जीवात्मा शरीरों में ही स्थिति है, किन्तु शरीर के उत्पन्न और नष्ट होने के साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं।"

इस पर बूढ़े मन्त्री ने पूछा—"बालक! तुम ब्रह्मज्ञानी मालूम

पड़ते हो। अच्छा, यह बताओ जब आत्मा का शरीर के सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि से कोई सम्बन्ध नहीं तो फिर पुरुष इस शरीर को अपना समझकर इसमें इतना ममत्व क्यों करता है?''

बालक ने दृढ़ता के स्वर में कहा—''मन्त्रीजी! इस ममत्व का कारण है माया मोह। देखिये, अपने गाँव से बहुत दूर एक तालाब है, वहाँ की मिट्टी में ईंटें बनीं। किसी के पास एक लाख रुपया था। कल तक वह उन्हें मेरा कहता था। किसी कारण से वे रुपये हमारे पास आ गये। अब उन रुपयों में हमारा ममत्व हो गया। उन रुपयों को हम अपने रुपये कहने लगे। जब ईंटें पककर तैयार हो गईं तो उन रुपयों में से कुछ रुपये देकर हम ईंटें मोल ले आये। अब जो रुपये दे दिए उनमें से तो ममत्व मेरापन छूट गया, किन्तु उनके सिक्कों के स्थान में उन मिट्टी की ईंटों में ममत्व आ गया। कुछ रुपये देकर लोहा लकड़ी ले आये कुछ रुपये से चूना कलई ले आये। एक भवन तैयार हो गया। उसमें लगने वाली ईंटों, लोहा, लक्कड़, चूना, बालू, कलई किसी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु जब घर बन गया तो हम बड़े अभिमान से कहते हैं—''मेरा घर है, मेरा भवन है, मैं इसका स्वामी हूँ।'' हमसे कोई पूछे—''क्योंजी, इसमें तुम्हारा क्या लगा है, किस शरीर के अङ्ग को काटकर तुमने इसे बनाया है।'' तो उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि हमारी इसमें कोई वस्तु नहीं लगी। केवल अपनापन है। कुछ काल में हम दिवालिया हो गये। घर बिक गाय तो घर के साथ हम तो बिके नहीं। जैसे घर बनने के पहिले थे, वैसे ही अब हैं। भवन भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है। किन्तु उससे हमारा ममत्व निकल गया। मेरापन मिट गया। जैसे गृह का स्वामी गृह से पृथक् है वैसे आत्मा भी देह से सर्वथा पृथक् है, अज्ञानवश जीव इस देह को ही आत्मा मान बैठा है।

जल से लहर उत्पन्न होती है, बुद्‌बुद उत्पन्न होते हैं तो वे सब जल तो नहीं कहलाते। जल के साथ उनका सम्बन्ध नहीं जल तो ज्यों-का-त्यों निर्मल बना रहता है। उसी प्रकार देह के संयोग-वियोग से, जन्म-मरण से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। इसे ध्यानपूर्वक समझो। मिट्टी से घड़े बने, सकोरे बने, नाद बनी और जाने क्या-क्या बने। चीनी से घोड़े बने, हाथी बने, ऊँट बने, बछेड़े बने, लाख से चूड़ियाँ बनीं, भाँति-भाँति की आकृतियाँ बनीं, कनक से कुण्डल बने, कर्णफूल बने, कङ्कण बने, करधनी बनीं। चाँदी से कड़े बने, छड़े बने, बाजूबन्द बने। बनने के पूर्व भी मिट्टी, चीनी, सोना, चाँदी और लाख अपने स्वरूप में थे। जब बन गये तो केवल नाम आदि आकृति को छोड़कर ज्यों-के-त्यों बने रहे। सकोरे में, घड़े में, नाद में, मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चीनी के चाहे घोड़े को ले लो या हाथी को, चीनी को छोड़कर उसमें कुछ नहीं। हाथी, घोड़ा बनने के पूर्व भी चीनी थी, बन जाने पर भी चीनी ही रही। फूट जाने पर भी ज्यों-की-त्यों चीनी ही है। जिस प्रकार नाम और आकृतियों के कारण चीनी आदि में कुछ भी परिवर्तन नहीं। उसी प्रकार नाना देह धारण करने पर भी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसकी निःसङ्गता नित्यता नष्ट नहीं होती।''

इस पर पुरोहित ने पूछा—''भैया! आत्मा शरीर में रहकर उससे पृथक् कैसे रहता है।''

बालक बोला—''देखिये महाराज! दो काठों के मन्थन करने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि काष्ठ में अग्नि पहिले से ही विद्यमान थी। रगड़ होने से वह प्रकट हो गई। फिर भी काष्ठ को अग्नि तो कोई कहता नहीं। अग्नि तो काष्ठ से पृथक् ही है। वायु शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है। वायु के बिना

शरीर की सत्ता नहीं। फिर भी वायु देह नहीं है। देह से वायु पृथक् ही है। इसी प्रकार आकाश सर्वगत है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ आकाश न हो। व्यवहार में कहते हैं कि यह घड़े का आकाश है, यह भवन का आकाश है। यह देह के छिद्रों का आकाश है। अनेक प्रकार के भेद होने पर भी आकाश में स्वयं कोई भेद नहीं वह सदा सबसे असङ्ग रहता है। उसी प्रकार आत्मा के बिना शरीर की सत्ता स्थिति नहीं। फिर भी आत्मा शरीर नहीं। शरीर से पृथक् निर्लप और स्वतन्त्र है। देह के लिये यदि तुम रोती हो तो देह तुम्हारे सम्मुख है। आत्मा के लिये सोचकर रही हो तो आत्मा मर तो जाता नहीं उसके लिये सोच करना व्यर्थ है। आत्मा किसी को दिखाई भी नहीं देता।''

इस पर रानियों ने कहा—''आत्मा दिखाई न देता हो, किन्तु जिससे यह शरीर जीवित बना हुआ था, वह प्राण तो इस शरीर में दीखता था। उस प्राण के बिना ही ये निष्प्राण पड़े हुए है। हमारा शोक उसी के लिये है।''

यह सुनकर बालक बोले—''प्राण तो बोलता सुनता नहीं। यद्यपि यह महाप्राण इन सभी इन्द्रियों में प्रधान है, फिर भी प्राण आत्मा तो है नहीं। इस शरीर का आश्रय तो प्राण है, प्राण भी जिसकी प्रेरणा से चलते हैं, वह आत्मा तो देह, मन, बुद्धि तथा प्राण इन सभी से पृथक् है।''

आत्मा यद्यपि सर्वगत है देहादि से भिन्न है, फिर भी पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश, कान, मुख, आँख, रसना, वाक्, प्राणि पाद, शिश्न, गुदा और मन आदि लिङ्गों से प्रतीत होने वाले उत्तम अथवा अधम, ऊँच अथवा नीच योनियों को अपने तेज से अपने साक्षीपने से समय पर धारण करता है और काल आने पर त्याग देता है।''

यह सुनकर पुरोहित ने पूछा—"फिर आत्मा को कर्मानुसार उत्तम, अधम योनियों में जन्म क्यों धारण करना पड़ता है? क्यों सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग आदि भोगने पड़ते हैं?"

यह सुनकर बालक ने कहा—"आत्मा जब तक लिङ्ग शरीर से संयुक्त-सा रहता है? तभी तक उसे कर्म बन्धन लगने से प्रतीत होते हैं। इसीलिये उसे शोक और नाना क्लेश पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं। वास्तव में आत्मा में तो ये सब होते नहीं माया के कारण ही ऐसी विपरीत भावना होती है। ये जो सुख-दुःख है ये सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम हैं, यह सत्य नहीं मिथ्याभिनिवेश है।"

पुरोहित ने पूछा—"भैया! यह बात तो उल्टी-सी है। जो वस्तु है ही नहीं उसमें मिथ्याभिनिवेश कैसे हो जायगा?"

बालक बोला—"अच्छा सुनिये, इस विषय में हम एक दृष्टान्त देते है। एक कोई पढ़े-लिखे शिष्ट पुरुष बाजार से कुछ मिट्टी के चिकने घड़े में तेल क्रय करके घर ला रहे थे। शिष्ट-पुरुष तेल के भार को स्वयं लेकर कैसे आवें। लोग हँसी उड़ावेंगे। उनकी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध बात थी। एक निर्धन व्यक्ति से उन्होंने कहा—"भाई! तुम इसे हमारे घर तक पहुँचा दो हम तुम्हें आठ आने देंगे।"

उसने कहा—"श्रीमान्! मैं तो बारह आने लूँगा।" अन्ततोगत्वा दस आने में बात तय हो गई। वह नौकर उनके तेल के घड़े को लेकर चला। घर दूर था। इसलिये मार्ग में वह सोचने लगा आज मुझे दस आने मिलेंगे तो मैं क्या करूँगा? उसने सोचा उस बाग में जाऊँगा। उस बाग के आम बहुत कम मूल्य पर मिलते हैं। वहाँ का माली भी मेरा परिचित है। दस आने के आम लाऊँगा। बाजार में आते ही वे सवा रुपये में अवश्य बिक जायेंगे। दूसरे दिन

सवा के लाऊँगा तो वे ढाई रुपये में बिक जायँगे। आठ आने अपने भोजनादि को रखकर तीसरे दिन २) के लाऊँगा तो ४) में बिक जायँगे। फिर ४) के लाऊँगा ८) में बिक जायँगे। उनमें से ६) की एक बकरी ले लूँगा। २) के आम लाऊँगा उसके चार हो जायँगे। इधर रुपये बढ़ेंगे। उधर बकरी दो-तीन बच्चे देगी। दूध को बेच दूँगा और बकरियों को रख लूँगा। जब चार बकरियाँ हो जायँगी तो उन्हें २ को बेचकर एक गौ ले लूँगा। गौ प्रति वर्ष एक बच्चा देगी। दूध होगा। दो बच्चों को बेचकर एक भैंस भी ले लूँगा १०-१५ सेर नित्य दूध होगा। साल भर में ५००) का दूध बिक जायगा तो फिर विवाह कर लूँगा। घर में छम्म-छम्म करती हुई बहू आ जायगी। उसको दूध बेचकर सोने चाँदी के आभूषण बनवाऊँगा। पचरङ्गी चुनरी और आठ गज का बड़ा-सा लँहगा बनवाऊँगा। सब लोग मुझे चौधरी कहेंगे। उसे चौधरानी। फिर मैं एक बड़ी-सी चौपाल बनवाऊँगा। पाँच सात बच्चे हो जायेंगे। जब वे बड़े होंगे तो उनका विवाह करूँगा। गुड़िया-सी छोटी-छोटी कई बहुएँ आवेंगी। मुझे देखते ही घूँघट मार लिया करेंगी। मैं घर में जाया करूँगा तो खाँस-मठारकर जाया करूँगा, जिससे वह घूँघट मार लें। फिर मैं कुछ काम धन्धा न किया करूँगा। चौपाल पर अपने मञ्च पर बैठा हुक्का पिया करूँगा। मेरे लड़कों के भी लड़का हो जायेंगे। तब वे मुझसे आकर कहा करेंगे—"बाबा! चलो भोजन कर आओ। दादी बुला रही है।" तब मैं बड़े गर्व से यों सिर हिला दिया करूँगा।"

बालक कह रहा है—"पुरोहितजी! इन बातों के सोचते-सोचते वह ऐसा तन्मय हो गया कि इस बात को सर्वथा भूल ही गया कि मेरे सिर पर तेल का घड़ा रखा है। ज्यों ही सिर हिलाया कि सिर का घड़ा पृथ्वी पर गिरकर फट से फूट गया। सब तेल बिखर गया।"

इस पर वे शिष्ट सज्जन बड़े क्रुद्ध हुए और अत्यन्त क्रोध प्रकट करते हुए बोले—"तुम बड़े मूर्ख हो जी, ४) की मेरी हानि कर दी। सब तेल फैला दिया।"

इस पर उन्होंने रोते-रोते कहा—"श्रीमान्! आपकी तो चार रुपये की हानि हुई। मेरी तो बनी बनाई गृहस्थी बिगड़ गई।" यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा। स्त्री बच्चों की याद करके उसे अत्यन्त दुःख हुआ।

ज्ञानी बालक कह रहा है—"देखिये, उस तेल ढोने वाले का विवाह भी नहीं हुआ था, फिर बच्चों की तो कथा ही क्या, किन्तु मनोरथ द्वारा उसने पूरी गृहस्थी बना ली और उसके विफल होने पर रोने लगा। यही है असत् में सत् का मिथ्याभिनिवेश। हम सो रहे हैं। स्वप्न देखते हैं हम राजा बन गये, हाथी पर चढ़कर जा रहे हैं। छत्र लगा है, चँवर ढुल रहे हैं। आँख खुल गई, न हाथी, न छत्र, न चँवर। वही टूटी पाटी की पुरानी, खटिया है, उस मैली चद्दर को ओढ़े गुड़मुड़ीमारे अपनी छोटी-सी कुटी में सो रहे हैं। जिसमें हाथी का प्रवेश तो कौन कहे गधा भी नहीं घुस सकता। जिस प्रकार वह स्वप्न का हाथी न होने पर भी स्वप्न काल में सत्य ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मा देह से पृथक् होने पर भी, विषय भोग मिथ्या होने पर भी सत्य के समान प्रतीत होते हैं। इसलिये यदि तुम आत्मा के लिये शोक करते हो तो यह तो सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा तो नित्य है न जन्मता है न मरता है। यदि देह के लिये शोक करते हो तो देह तो अनित्य क्षणभंगुर है ही। इसका नाश अवश्यम्भावी है। उसे कोई टालना भी चाहे तो नहीं टाल सकता। कितना भी शोक करो जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह बदल नहीं सकता। जो आत्मा नित्य तथा अजर-अमर है वह प्रयत्न करने पर भी अनित्य तथा नाशवान् हो नहीं

सकता। अत: आप सबका शोक करना व्यर्थ है। आप सबके दु:ख को देखकर मुझे दया आ गई है। अत: इस सम्बन्ध में मैं आपको एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद और रोचक कहानी सुनाता हूँ। उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।''

छप्पय

मायावश ई कर्मबन्धमहँ फँस्यो जीव है।
माया बन्धन कटे जीव नहिँ फेरि शीव है।।
मनतें मोदक खायँ मुदित होवें हरषावें।
सपनेमहँ धनहीन चक्रवर्ती बनि जावें।।
स्वप्न मनोरथ ज्यों सबहिं, जैसे सत्यातीत है।
तैसे ही जगको विषय, भ्रमवश होत प्रतीत है।।

स्वपराभिनिवेश अज्ञानजन्य है

(४५५)

ततः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव च।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम्।। ✯

(श्री० भाग० ७ स्क० २ अ० ६० श्लो०)

छप्पय

फँसी कुलङ्गी एक जालमहँ तजि निज सुतपति।
लखि कुलङ्ग निज बधू फँसी मन भयो दुखित अति।।
नैननि नीर बहाय कहे कैसे जीऊँ अब।
प्रिया विरह अति दुसह भये असहाय पुत्र सब।।
देइ दैवको दोष पुनि, कहे विधाता का कर्‌यो।
व्याधा मार्‌यो बान तकि, लगत बान मरि गिरि पर्‌यो।।

जो सिंह से भयभीत है, वह दूसरों की उससे क्या रक्षा कर सकेगा। जिसे स्वयं सर्प ने डस लिया है, वह दूसरों को सर्प से कैसे बचा सकता है। इसी प्रकार जो प्राणी स्वयं मरणधर्मा है, जिसे स्वतः एक दिन अवश्य मरना है, वह दूसरों को मृत्यु के मुख से सदा के लिये कैसे बचा सकता है। मरे हुए के लिये शोक करने से कोई लाभ तो होता नहीं, उलटी हानि ही है। शरीर में अज्ञान के

✯ *हिरण्यकशिपु अपने स्वजनों को समझाता हुआ कह रहा है—"देखो, संसार में कोई किसी का है नहीं, अतः तुम सब लोग अपने या पराये के लिये किसी भी प्रकार का शोक मत करो। इस संसार में अपनापन और परायापन क्या है? कौन अपना है कौन पराया है। निजत्व परत्व का अभिनिवेश अज्ञान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।"*

कारण, मिथ्याभिनिवेश के कारण ही शोक तथा मोह होता है।

हिरण्यकशिपु अपने भाई की बहू को सम्बोधित करके सबको सुनाकर कह रहा है—"क्यों कल्याणी! तू इस बात का विचार कर कि तू रोती रहेगी तो क्या होगा। देख, सुयज्ञ की रानियाँ अपने मृत पति के शरीर को लेकर भाँति-भाँति से विलाप कर रही थीं। उन्हें वह छोटा-सा ज्ञानी बच्चा रात्रि में सान्त्वना देते हुए समझा रहा था कि जो मरणशील (शरीर) है, वह अमर हो नहीं सकता। जो अमर आत्मा है उसका कभी नाश नहीं होता। इस विषय में तुम्हारा शोक करना व्यर्थ है। इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, हानि ही होगी। इस विषय में तुम सबको मैं एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब दत्तचित्त होकर ध्यान से सुनो।"

किसी जङ्गल में एक कुलिङ्ग का जोड़ा रहता था। कुलिङ्ग अपनी कुलिङ्गी को अत्यधिक प्यार करता था। कुलिंगी भी अपने पति को प्राणों से भी अधिक चाहती थी। दोनों ने एक घने वृक्ष पर अपना सुन्दर घोंसला बना लिया था। दोनों साथ ही चुगने जाते, साथ ही लौटकर आते। साथ ही चोंच-में-चोंच भिड़ाकर खाते। साथ ही दोनों किलोल करते, आनन्द विहार सुखपूर्वक व्यतीत करते। उन दोनों में ऐसा स्नेह था कि वे स्नेह के दिन उन्हें जाते हुए कुछ भी प्रतीत नहीं होते थे कि कब दिन होता है कब रात्रि। उन्हें उसका कुछ पता नहीं था, वे तो परस्पर के अनुराग में ऐसे उन्मत्त मदान्ध हो रहे थे कि न उन्हें दिन का ज्ञान था न रात्रि का। इस प्रकार उनके दिन आनन्द से कटने लगे।

कुछ काल में कुलिङ्गी ने चार सफेद अण्डे दिये। अब वह उन्हें बड़े स्नेह से छाती से चिपटा कर सेती। कालान्तर में वे अण्डे फूट गये और उनमें से चार बिना पङ्ख के बच्चे उत्पन्न हो गये। उन पंखहीन मांस के लोथड़े के समान अति कोमल बच्चों को देखकर

माता-पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जब वे चींवँ-चीवँ करके माता-पिता के अङ्ग में लिपट जाते तो कुलङ्गी अपने आप को भूल जाती। अब दोनों का साथ चरने जाना बन्द हो गया। एक घोंसले में रहकर बच्चों की देखभाल करता। एक दाना ले आता। प्रायः कुलिङ्गी जाती दाना लेकर लौट आती, बच्चों की चोंच में अपनी चोंच सटाकर उन्हें खिलाती, तब तक कुलिङ्ग जाकर और भी दाना ले आता। कुलिङ्ग और कुलिङ्गी तो परस्पर में मोह ममता में फँसे अपने बच्चों के लालन-पालन में व्यग्र हो रहे थे, किन्तु कालदेव एक ओर अव्यग्र भाव से खड़े-खड़े उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि कालदेव की गणना अब समाप्त ही होने वाली है।

उसी समय एक बहेलिया कन्धे पर जाल रखे हुए आया। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों साक्षात् यमराज ही बहेलिया का रूप रखकर आ गये हों। उसका शरीर अञ्जन के समान काला था। बाल कड़े रूखे और ताम्रवर्ण के थे। उसका माथा छोटा था। नाक चिपटी हुई थी। आँखें गोल और लाल थीं। उसके मुख से क्रूरता मूर्तिमान होकर प्रकट हो रही थी। उसके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग कर्कश और भयानक थे। उसने वहीं आकर जाल बिछा दिया और उसमें बहुत से चावल के दाने बिखेर दिये।

कुलिंगी ने दूर से देखा आज तो भगवान् ने समीप ही बहुत सा भोजन भेज दिया। वह झट से दाने के लालच से घोंसले से उड़ी। ज्यों ही उसने दाने के लिये चोंच मारी त्यों ही जाल में फँस गई। बहुत तड़फड़ाई, घबड़ाई, किन्तु जो जाल में फँस गया सो फँस गया।

दूर से कुलिंग ने देखा—"अरे, यह तो मेरी पत्नी जाल में फँस गई। अब क्या करूँ, यह व्याध तो उसे मार डालेगा। हाय! मैं

अकेला रह जाऊँगा। स्त्री के बिना अकेला रहना तो मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी है। स्त्री घर की लक्ष्मी होती है। गृहिणी से ही घर की शोभा है। वही सब घर की देख-रेख कर सकती है। उसके बिना इन बच्चों को कौन पालेगा। दुख में मुझे धैर्य कौन बँधावेगा। कौन मेरा मनोरञ्जन करेगा। वह मुझसे कितना प्यार करती, कितनी घुल-मिलकर मधु से भी मीठी-मीठी बातें करती। हाय! मेरा आज भाग्य फूट गया। मैं आधे अङ्ग से हीन अनाथ और आश्रयहीन हो गया। मैं अपनी प्यारी पत्नी के बिना कैसे जी सकता हूँ। वह मुझे खिलाकर खाती थी, मेरे सो जाने पर सोती थी, मुझसे पहिले उठ जाती थी। मेरे सभी संकेतों को समझती थी। उसके बिना मेरा जीवन सूना शुष्क और नीरस हो जायगा।''

बालक कह रहा है—''राजरानियों! इस प्रकार वह कुलिंग भाँति-भाँति से शोक करता हुआ रो रहा था कि पेड़ के नीचे छिपे हुए व्याध ने एक तककर बाण उस कुलिंग को लक्ष्य करके मारा। बाण कुलिंग के हृदय में लगा। तत्क्षण वह मरकर गिर पड़ा। क्षण भर पहिले जो अपनी स्त्री की भावी मृत्यु पर दुखी हो रहा था, उसे मृत्यु का सामना करना पड़ा। वह अपने जीवन से हाथ धो बैठा। इसी प्रकार तुम भी इन राजर्षि के लिये व्यर्थ सोच कर रही हो। एक दिन तुम्हें भी इसी रास्ते से जाना होगा। एक दिन तुम्हें भी मृत्यु के जाल का ग्रास बनना होगा। यदि तुम सौ वर्ष तक ऐसे ही बैठी रोती रहो तो भी अब तुम फिर अपने पति सुयज्ञ को नहीं पा सकतीं।''

हिरण्यकशिपु अपनी माता को सम्बोधित करके कह रहा है—''माताजी! इसी प्रकार आप भी चाहें अब जितना सोच करें, आपका पुत्र हिरण्याक्ष अब लौटकर नहीं आ सकता। उसे तो काल रूप कृष्ण ने सूकर रूप से मारकर परलोक पहुँचा दिया। उस

बालक की बातों को सुनते-सुनते सुयज्ञ के सम्बन्धियों की पूरी रात्रि बीत गई।''

रात्रि के बीत जाने पर सबको बोध हुआ। उस ज्ञानी बालक की बातों का सभी के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। रानियाँ जो अपने मृत पति के शरीर को कसकर पकड़े बैठी थीं उन्होंने उसे छोड़ दिया, राजा के बन्धु-बान्धव सगे सम्बन्धियों ने चन्दन की चिता लगाकर शास्त्रीय विधि से उनका दाह संस्कार किया। फिर समस्त और्ध्वदैहिक कर्म किये। सबके देखते-देखते वह बालक वहाँ से अन्तर्धान हो गया।''

शौनकजी ने पूछा—''सूतजी! ५-६ वर्ष के बच्चे को इतना भारी ज्ञानी होना हमें तो महान् आश्चर्य में डाल रहा है। यह बालक कौन था?''

इस पर सूतजी बोले—''महाभाग! यह बालक और कोई नहीं था, स्वयं साक्षात् यमराज ही बालक का वेष बनाकर दयावश सुयज्ञ के बिलखते हुए बन्धु-बान्धवों को ढाँढस बँधाने आये थे।''

इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने अपनी माता, भ्रातृपत्नी तथा भतीजों को गूढ़ ज्ञान का उपदेश दिया। उसने कहा—''तुम द्वैत भाव को छोड़ दो। अपने या पराये किसी के लिये भी सोच मत करो। संसार में तो सभी अपने हैं या सभी पराये हैं। आत्मा के अतिरिक्त सभी पर हैं, त्याज्य हैं और आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ संसार में है भी नहीं। अतः सबको अपने आत्मा में देखो अथवा सभी में अपने आपके ही दर्शन करो।''

देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—''राजन्! इस प्रकार जब हिण्यकशिपु ने अपनी माता को तथा अन्य सभी को समझाया तो सभी ने धैर्य धारण किया। हृदय से अज्ञानजन्य शोक मोह को निकाल दिया।

दिति ने कहा—"बेटा! तैंने बड़ी आत्मतत्व की गूढ़ बातें बताई! अब मेरा शोक बहुत कुछ कम हो गया। मैं बहू को भी समझाऊँगी कि वह शोक को त्याग दे। ये बच्चे तो अभी बच्चे ही ठहरे। इनको भी मैं समझाऊँगी। तू अब आगे अपने कल्याण की चिन्ता कर। ऐसा न हो कि ये देवता तुझसे भी शत्रुता करें।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"माँ! तुम मेरी कुछ भी चिन्ता न करो। मैं तो अपने पुरुषार्थ से मृत्यु के सिर पर पैर रख दूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर हिरण्यकशिपु आगे कर्तव्य के विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचने लगा।"

छप्पय

कितनो हू दुख करो भूपकूँ अब नहिँ पाओ।
तातें तजिके शोक मोह अपने घर जाओ।।
सुनि बालककी बात शोक सबने तजि दीन्हों।
मिलि सम्बन्धी सविधि दाह नृपशवकी कीन्हों।।
हिरनकशिपु सबतें कहैं, बन्धु शत्रुकूँ मारि हम।
बदलो बधको लेइँगे, तजो शोक सन्ताप तुम।।

हिरण्यकशिपु की तपस्या

(४५६)

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम्।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत।।
स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादांगुष्ठाश्रितावनिः।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० ३ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

यों सबकूँ समुझाइ चल्यो तपकूँ असुराधिप।
अजर अमर रनजयी बनन हित करे घोर तप।।
मन्दर गिरिकी गुहा माहिँ एकाकी रहिकें।
करे तितिक्षा असुर शीत उष्णादिक सहिकें।।
मांस दीमकनि भखि लयो, अस्थि मात्र ई बचि गई।
असुर उग्र तपतें जगत, महँ अशान्ति अति मचि गई।।

शुभ-अशुभ कोई भी कर्म क्यों न करो उसका फल अवश्य ही मिलेगा। वस्तु एक है, पात्र भेद से भावना भेद से उसके फल में विपर्यय हो जाता है। वर्षा का जल एक है नदी में पड़ने से मीठा हो जाता है, समुद्र में पड़ने से खारा हो जाता है। कल्पवृक्ष सबके लिये एक-सा ही फल देने वाला है। उसके नीचे जो चाहो प्राप्त कर

✯ *धर्मराज युधिष्ठिर से श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! अपने आपको अजर, अमर, अजेय तथा एकछत्र सम्राट बनने की इच्छा से वह हिरण्यकशिपु मन्दराचल की कन्दरा में जाकर घोर दारुण तप करने लगा। उसने अपनी बाहुओं को ऊपर उठा रखा था, दृष्टि आकाश की ओर लगा रखी थी, भूमि पर उसका केवल अँगूठा ही टिका हुआ था।"*

लो। किन्तु भावना के भेद से फल में बड़ा अन्तर हो जाता है। एक कहानी है कि कोई अबोध अज्ञानी अकस्मात् कल्पवृक्ष के नीचे चला गया, वहाँ वह सोचने लगा—"यहाँ तो बड़ा सुख है जल होता तो स्नान करता, पानी पीता।" तत्क्षण अमृतोपम जल वाला वहाँ एक स्वच्छ सर बन गया। उसने स्नान किया जल पिया।फिर सोचा ऐसी जगह तो एक सुन्दर भवन होता शैया होती तो सोता। तत्क्षण भवन बन गया। सुन्दर स्वच्छ शैया बिछ गई। फिर सोचा यहाँ सुन्दर भव्य पदार्थ होते तो पेट भर के भोजन करता। बात-की-बात में ५६ प्रकार के भोगों से सजा थाल वहाँ आ गया। उसने पेट भर भोजन किया। फिर सोचा—"इतने बड़े भवन में एकाकी क्या रहना। एक स्त्री भी होती तो सुख से बात करते हुए रहते।" देखते-देखते स्त्री भी आ गये। अब उसे सन्देह होने लगा—"यह कोई जादू तो नहीं है, जो सोचता हूँ वही हो जाता है। यह कोई राक्षसी तो नहीं है, जो मुझे खा जाय।" तत्क्षण वह स्त्री राक्षसी बनकर उसे खा गई। जो कल्पवृक्ष सभी वासनाओं को पूर्ण करता है। उसके नीचे रहकर दिव्य-से-दिव्य भोग माँगना ही श्रेयस्कर है। वहाँ यदि बुरी वस्तु माँगों तो वह भी मिलेगी। इसी प्रकार तपस्या करके भगवान् की भक्ति माँगना यह तो तप का सर्वोत्कृष्ट फल है और तपस्या करके इस जड़ शरीर को बनाये रखने की याचना करना, पर पीड़ा की शक्ति माँगना! यह तो तप का दुरुपयोग है। मिलती तो ये भी सब वस्तु है, क्योंकि तपस्या तो व्यर्थ जा नहीं सकती। किन्तु इन वस्तुओं से शान्ति नहीं मिलती, चित्त सदा उद्विग्न बना रहता है। सर्वदा शत्रु की चिन्ता लगी रहती है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार अपनी माता, भ्रातृवधू, और भतीजों को समझा-बुझाकर हिरण्यकशिपु ने अब अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ शूरवीर बली

बनाने के निमित्त उपाय सोचा। वह सोचने लगा—"किस प्रकार मेरी यह देह सदा ज्यों-की-त्यों अजर और अमर बनी रहे। विजयी तथा सबसे उत्तम सम्माननीय बन सकूँ। कोई भी योद्धा मेरे सम्मुख खड़ा न हो सके। कोई भी मुझे न मार सके, न पराजित कर सके।" सोचते-सोचते उसके मन में आया कि सब वस्तुएँ तपस्या के ही द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। तपस्या के प्रभाव से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। असम्भव भी सम्भव बन जाती है इसीलिये मन्दराचल पर्वत पर जाकर तपस्या करनी चाहिये।"

ऐसा सोचकर वह मन्दराचल की एक बड़ी भारी गुफा में चला गया। वहाँ जाकर उसने घोर तप करना आरम्भ कर दिया। वह एक पैर से अँगूठे के सहारे खड़ा होकर, ऊपर हाथ उठाकर, आकाश की ही ओर देखता हुआ वृक्ष के सूखे ठूँठ की भाँति, निश्चेष्ट भाव से खड़ा रहा। न वह हिलता था न डुलता था। उसके सिर पर बड़ी-बड़ी जटायें बढ़ गयी थीं, तपस्या के कारण उसका मुखमण्डल चमचमा रहा था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानों प्रलयकालीन सूर्य मयूख माला से सुशोभित हुए दमदमा रहे हों। अञ्जन पर्वत शिखर के समान वह स्थिर भाव से खड़ा था। इस प्रकार वह सहस्रों वर्षों तक खड़ा रहा।

हिरण्यकशिपु को तप में लगा देखकर देवताओं को सन्तोष हुआ। समस्त देवताओं को उसने पदच्युत कर दिया था। स्वयं ही इन्द्रासन पर बैठकर तीनों लोकों का शासन करता था। अब देवता फिर अपने-अपने पदों पर आकर प्रतिष्ठित हुए। सबने सोचा—"अच्छा है, यह दुष्ट वहीं तपस्या करते-करते मर जाय।" उसकी तपस्या साधारण तो थी नहीं। फल-फूल अन्न की तो कौन कहे जल की एक बूँद भी नहीं लेता था। उसका रक्त सूख गया। माँस चर्म को दीमकें चाट गईं, केवल अस्थि कंकाल शेष रह गया। किन्तु

उसने तपस्या से अपने चित्त को नहीं हटाया। देवताओं के वर्षों से हजारों वर्ष तक ऐसी ही घनघोर तपस्या करता रहा।

उसकी तपस्या परपीड़न के निमित्त तमोगुणी थी। अतः उसके कपाल से तमोमय धूम्रयुक्त अग्नि की एक ज्वाला-सी प्रकट हुई। वह अग्नि तीनों लोकों में फैलकर सभी प्राणियों को संतप्त करने लगी। उस तमोमय अग्नि के कारण दशों दिशाओं में दुधर्ष दाह फैल गया। द्वीप, पर्वत, नद, नदी, पूर्ण पृथ्वी उसी प्रकार डगमगाने लगी जैसे हाथी के बैठ जाने से नौका डगमगाने लगती है। कूप, नदी, नद, तथा समुद्रों का जल खौलने लगा। ग्रह, नक्षत्र तथा तारे टूट-टूटकर भूमि पर गिरने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। प्राणी उसके तमोमय तेज के प्रभाव को सह नहीं सके। मनुष्य लोक के प्राणी तों इसका कारण ही न समझ सके। देवगण उस तमोमय ज्वाला से सन्तप्त होकर मन्त्रणा करने लगे। इसकी एक सभा हुई। उसमें इस बात पर विचार हुआ कि इसका प्रतिकार क्या करना चाहिये। यह दुष्ट अपनी धुन का पक्का है इसे हम तप से निवृत्त तो कर नहीं सकते। अब क्या करें। इस पर बहुत समय तक विवाद होता रहा। अन्त में इन्द्र ने कहा-"देखो, भाई! इसे तप से हटाना हम सबकी शक्ति के बाहर है। सब मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के पास चलो। वे ही इस समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। हम सब तो उन्हीं के बनाये हुए हैं। उनसे चलकर निवेदन कर दें। फिर वे जैसा भी उचित समझेंगे उपाय करेंगे।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा निश्चय करके इन्द्र को आगे करके सब देवगण ब्रह्मलोक में पितामह ब्रह्मा की सभा में पहुँचे। दण्ड प्रणाम और शिष्टाचार के अनन्तर ब्रह्माजी ने हँसते हुए पूछा—देवताओ! आज तुम सब का मुख म्लान क्यों हो रहा है? क्यों आज तुम लोग चिन्तित से दिखाई पड़ते हो? अपनी चिन्ता

का कारण मुझे बताओ?''

इस पर हाथ जोड़कर देवताओं की ओर से देवेन्द्र ने कहा—''ब्रह्मन्! अब हमारा स्वर्ग में रहना असम्भव हो रहा है।''

संभ्रम के साथ ब्रह्माजी ने पूछा—''क्यों, क्यों क्या हुआ? फिर कुछ असुरों ने गड़बड़-सड़बड़ कर दी क्या?''

इन्द्र ने कहा—''अजी, महाराज! गड़बड़-सड़बड़ क्या हम लोग सब दैत्यराज हिरण्यकशिपु के तप से सन्तप्त हैं। इसलिये हे देवाधिदेव! हे भूमन! हे ब्रह्मन्! हे सर्वसमर्थ प्रभो! यदि आप अकाल में प्रलय कराना नहीं चाहते तो उसे शान्त कर दीजिये।''

ब्रह्माजी ने पूछा—''वह कैसे शान्त होगा?''

देवताओं ने कहा—''अब इसे तो महाराज! आप ही समझ सकते हैं। जो वह माँगें वह दीजिये। और हम लोग क्या उपाय बतावें?''

ब्रह्माजी ने पूछा—''अच्छा वह चाहता क्या है? किस वस्तु की प्राप्ति के लिये वह ऐसा उग्र तप कर रहा है?''

देवताओं ने कहा—''महाराज! आप सब जानते हैं। आप सर्वज्ञ हैं, आप से कौन-सी बात छिपी रह सकती है। फिर भी आप आज्ञा देते हैं तो हम उसके संकल्प को बताते हैं। उसका ऐसा विचार है कि जिस प्रकार लोकपितामह ब्रह्माजी इस अपने योग के प्रभाव से इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का पालन करते हैं वैसे ही मैं पालन करूँ। जैसे ब्रह्माण्ड में वे सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं, वैसे ही मैं समझा जाऊँ। जैसे वे सबके द्वारा पूजित होते हैं, वैसे ही समस्त प्राणी मेरी भी पूजा करें। मैं अपने प्रवृद्ध तप और योग समाधि के द्वारा क्रमशः सभी उत्कृष्ट लोकों का आधिपत्य प्राप्त कर लूँ।''

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—''अरे, देवताओं! मेरे लोक को प्राप्त होना कोई हँसी खेल तो है ही नहीं। वह अपनी

अल्पायु के समय में तनिक-सी तपस्या के द्वारा इतने प्रतिष्ठित पद को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकेगा?''

इस पर देवता बोले—''महाराज, उसका विचार है, न एक जन्म में होगा, दो जन्म में होगा। दस, बीस, सौ, दो, सौ, हजार पाँच सौ कितने भी दिनों में हो, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं। आत्मा नित्य, अजर, अमर है। उसका कभी नाश होता नहीं। शरीर तो नाशवान् है ही। अत: कितने भी जन्म में क्यों न हो वह सिद्धि प्राप्त करके ही हटना चाहता है। वह महाराज! आपके ब्रह्मपद को लेना चाहता है, आपकी गद्दी पर अधिकार करना चाहता है। वह कहता है मुझे न शिवपद चाहिये न विष्णुपद मुझे तो ब्रह्मपद से ही प्रयोजन है। वह तो भगवन्! आपके पद के पीछे पागल हो रहा है।''

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—''अच्छी बात है भैया! फिर हानि ही क्या? ब्रह्मा भी तो बदलते ही रहते हैं। ब्रह्मपद पर रहेगा धर्म का पालन करेगा।''

इस पर इन्द्र ने कहा—''नहीं, भगवन्! आप इस भरोसे पर न रहें। उसका दूसरा ही विचार है। वह कहता है मैं ब्रह्मा होकर इन समस्त नियमों को उलट दूँगा। अधर्म को धर्म बना दूँगा। स्वर्ग में देवों के स्थान पर दैत्य रहेंगे। पृथ्वी से जल, जल से तेज, तेज से वायु और वायु से आकाश उत्पन्न करूँगा। वृक्षों से पुरुष उत्पन्न करूँगा। इस प्रकार वह सृष्टि के पाप-पुण्यादि कर्मों को विपरीत बना देना चाहता है। जगत् में उथल-पुथल करके प्राकृतिक नियमों में मूलत: उलट पलट करना चाहता है। हमने तो ऐसा ही सुना है कि वह आपको हटा कर, आपके पद पर प्रतिष्ठित होकर ये विपरीत बातें करना चाहता है। यह महाराज! हम सुनी सुनाई बातें कह रहे हैं। इसमें सत्यता कितनी है और इसमें सफलता कहाँ तक प्राप्त हो सकती है, इसे तो सर्वज्ञ होने के कारण आप ही जान सकते हैं।''

इस पर ब्रह्माजी ने गम्भीर होकर देवताओं से कहा—

"अच्छा इस विषय में तुम सबकी क्या सम्मति है?"

देवताओं ने यह सुनकर कहा—"महाराज! हममें आप को सम्मति देने की योग्यता कहाँ है। इसे तो आप ही निर्णय कर सकते हैं। हमारी सम्मति तो यही है कि वह जो कुछ चाहे दे। दे कर उसे तप से निवृत करें आगे न जाने और क्या उपद्रव करेगा। भगवन्! आपका पद असुरों के बैठने योग्य नहीं है। इस स्थान से तो सदा गौ ब्राह्मण का हित होता रहा है। सबका मूल कारण होने से ब्रह्मपद कल्याण, विभूति, कुशल और विजय का कारण है। उस पर तो आपकी ही शोभा है। आपके द्वारा इतना प्रतिष्ठित पद बना हुआ है। यदि इस पर हिरण्यकशिपु राक्षस आकर बैठ गया, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।

देवताओं की सब बातें सुनकर गम्भीर होकर ब्रह्माजी बोले—"अच्छा भैया, तुम सब लोग जाओ। मैं इसका कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य सोचूँगा। उसे जैसे बनेगा तैसे तप से निवृत्त करूँगा। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।"

श्री नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार देवताओं को आश्वासन देकर बूढ़े बाबा उस असुर के समीप जाने की तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

दौरे दौरे देव गये धाताके ढिँग सब।
बोले ब्रह्मन् बढ़्यो बवंडर विश्व माहिँ अब।।
असुर करै तप देव ब्रह्मपद चाहे लेवो।
ब्रह्मा बनिके चहे आपकूँ धक्का देवो।।
सुनि विधि बोले देवगन, असुर निकट हौं जाउँगो।
देकें इच्छित वर तुरत, तपतें ताहि हटाउँगो।।

हिरण्यकशिपु को दुर्लभ वरों की प्राप्ति

(४५७)

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यदपि दुर्लभान्।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० ४ अ० २ श्लो०)

छप्पय

यों कहि ब्रह्मा गये ढ़ेर दीमकको देख्यो।
तृन वाँसनि ते ढक्यो अस्थिमय सुररिपु पेख्यो।।
दिव्य कमण्डलु नीर छिरकि तनु सुघर बनायो।
बोले बेटा! माँगु तोहि वर देवे आयो।।
करि पूजा बोल्यो असुर, माँगू वर ये देहिं बिभु।
रचे तुम्हारे जीवतें, मृत्यु न मेरी होहि प्रभु।।

तप कभी व्यर्थ नहीं जाता, तप का फल अवश्य होता है, किन्तु जो तप देह को ही आत्मा समझकर देह की अजरता, अमरता तथा लौकिक ऐश्वर्य के निमित्त किया जाता है, वह राजस् तामस् तप है। जो तप भगवत् प्राप्ति के लिये किया जाता है, यथार्थ में तो वही तप है। असुर भी तप करते हैं और भक्त भी तप करते हैं। दोनों पर ही तप के प्रभाव से इष्ट प्रसन्न होते हैं। असुर माँगते हैं—"हमारा शरीर सदा बना रहे हमें कोई जीत न सके, जिसके सिर पर भी हम हाथ रख दें वही मर जाय, "इत्यादि-इत्यादि" किन्तु भक्तगण इष्ट के प्रसन्न होने पर कहते है—"हमें

✯ *हिरण्यकशिपु के वरदान माँगने पर श्री ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे तात! यद्यपि तुम जो भी वर मुझसे माँग रहे हो, वे मनुष्यों के लिये अत्यन्त ही दुर्लभ है फिर भी कितने भी दुर्लभ क्यों न हों, मैं उन सब वरों को तुम्हें देता हूँ।"*

धन नहीं चाहिये, वैभव की हमें वांच्छा नहीं। हम तो हे कमलनयन! हे हृदयेश! यही चाहते हैं कि आपके पावन पादपद्मों में हमारी अहैतुकी भक्ति हो।''

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—''राजन्! जब हिरण्यकशिपु के तप की बात ब्रह्माजी से कहकर देवता अपने-अपने लोकों को चले गये, तब लोकपितामह ब्रह्मा अपने पुत्र मरीचादि प्रजापतियों से घिरकर उस स्थान पर आये जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था। ब्रह्माजी ने अपने हंस पर से बैठे-ही-बैठे हिरण्यकशिपु को देखना चाहा, किन्तु उन्हें वह दिखायी ही न दिया। इधर-उधर बहुत खोज की किन्तु वहाँ कहीं हिरण्यकशिपु का पता ही नहीं चला। सर्वत्र घास खड़ी थी। बाँसों का बन था। दीमकों ने स्थान-स्थान पर मिट्टी के ढेर एकत्रित कर लिये थे। विशेष अन्वेषण करने पर उन्हें एक दीमक का ढेर-सा दिखायी दिया, उस पर बाँस उगे हुए थे। बड़ी-बड़ी दूब जम रही थी। चीटियों ने वहाँ बहुत बिल बना रखे थे। ध्यान से देखने पर ब्रह्माजी को निश्चय हो गया कि यही हिरण्यकशिपु है। उन्होंने देखा उसके रक्त, माँस, मेदा, चर्म आदि को दीमक और चींटी आदि ने चट कर लिया है, केवल उसकी अस्थिमात्र अवशिष्ट है। यह देखकर दयावश लोकपितामह ब्रह्माजी उससे बोले—''हे दितिनन्दन! हे कश्यपकुलकेतु! उठो, उठो अब तुम्हारी तपस्या पूरी हुई। तुम्हारी साधना का श्रम सफल हुआ। तुम अब सिद्ध हो गये। उठो, उठो अब अधिक कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हें वर देने के लिये आया हूँ। जैसा तप तुमने किया है वैसा न आज तक किसी ने किया न आगे कोई कर सकेगा। तुम्हारा धैर्य विलक्षण है। देखो, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर की चीटियों ने, दीमकों ने, डाँस और मच्छरों ने खा लिया है, फिर भी तुम तप से निवृत्त नहीं

हुए। देवताओं के वर्षों से सौ वर्ष पर्यन्त तुम बिना कुछ खाये, बिना जल पिये, शरीर की सुधि भुलाये तपस्या कर रहे हो, इस प्रकार तप करने की किसकी सामर्थ्य है? मैं तुम्हारे दुष्कर कर्म से, सराहनीय साहस से, तीव्र तपोनिष्ठा से और सुदृढ़ निष्ठा से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे जो चाहो वह माँगो। तुमने मुझे अपने तप के वश में कर लिया है, अब तुम जो भी वर माँगोगे उसे ही मैं दूँगा। मुझे देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व तथा सभी प्राणी वरदाताओं में श्रेष्ठ बताते हैं, मैं तुम्हारे भी मनोरथों को पूर्ण करूँगा। तुम अब विलम्ब न करो और नि:संकोच होकर जो चाहो वह माँग लो। तुम मरणधर्मा प्राणी हो, मैं नित्य अमर हूँ, अत: मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता।''

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—''राजन्! ब्रह्माजी ने विविध भाँति से हिरण्यकशिपु को समझाया, किन्तु उसने कुछ सुना ही नहीं वह तो दीमकों के ढेर में जड़ बना हुआ था। तब तो ब्रह्माजी समझ गये कि इसे मेरे आने का पता भी नहीं है। अत: पहिले इसे चैतन्यता करानी चाहिये।'' यह सोचकर उन्होंने नित्य दिव्य कमण्डलु का अमोघ जल उसके ऊपर छिड़क दिया। उस दिव्य जल के स्पर्श होते ही वह उसी प्रकार उन बाँस दूब के बीच में से उत्पन्न हो गया, जिस प्रकार अरणियों के बीच में से अग्नि प्रकट हो जाती है। अथवा मन्द हुई अग्नि में जैसे घृत पड़ने से प्रज्वलित हो जाती है, अथवा सूखा हुआ वृक्ष जैसे अमृत पड़ने से हरा हो जाता है, अथवा मुरझाया हुआ कमल पानी पाकर प्रफुल्लित हो जाता है। जिस कमण्डलुसे त्रैलोक्य पावनी, मुनिमनहारिणी जगद्वन्दिनी भगवती भागीरथी प्रकट हुई हैं उस अघहारी जल के स्पर्श होते ही हिरण्यकशिपु का शरीर पहिले से अधिक दिव्य सुदृढ़ और दर्शनीय हो गया। सह, ओज और बल से युक्त होकर वह

परम दर्शनीय और हृष्ट-पुष्ट होकर उस वल्मीक के ढेर से बाँसों और तृणों के बीच से सहसा खड़ा हो गया। सुवर्ण के समान

उसका शरीर दमक रहा था। दिव्य आभूषण उसके अङ्गों में चमक रहे थे। जब उसने आकाश में हंस पर विराजमान लोकपिताम्बर ब्रह्माजी को देखा, तब वह हक्का-बक्का सा रह गया। संभ्रम के साथ प्रेम के वेग में और कुछ भी न करके वह भूमि में दण्ड के समान पड़ गया और भक्ति-भाव से लोक पितामह को साष्टांग दण्ड प्रणाम करता रहा। बड़ी देर तक वह ऐसे ही पड़ा रहा। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, वाह्यज्ञान होने से वह उठा। उसके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो रहे थे, प्रेम के कारण कण्ठ गद्‌गद हो गया था। बड़े कष्ट से आँसू पोंछकर वह भर्राई हुई वाणी से भगवान् ब्रह्मा की स्तुति करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी की अव्यक्त ब्रह्मभाव से बड़ी ही सुन्दर स्तुति की। उसमें ब्रह्माजी को ही सृष्टि स्थिति और लय का कारण बताया। उन्हें ही अव्यक्त, पुराणपुरुष, निरुपाधिक चेतन अचेतन शक्ति से युक्त, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वगत सिद्ध किया। उस दिव्य स्तुति को मैं फिर स्तुति प्रसङ्ग में सुनाऊँगा उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने पुनः कहा—"बेटा! मैं तेरे तप से ही परम सन्तुष्ट था, अब तैने दिव्य स्तुति करके मुझे और भी अधिक सन्तुष्ट कर लिया, अब तू अपना मनोभिलाषित वर मुझसे माँग ले।"

ब्रह्माजी की बात सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"ब्रह्माजी! आप सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ हैं, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे सदा के लिये अजर-अमर-कभी न मरने वाला बना दीजिये।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! वस्तु तो वही माँगनी चाहिये जो जिस पर हो। किसी व्यक्ति ने शीतला देवी की आराधना की। शीतला देवी का वाहन गधा है। कुछ काल के अनन्तर उसकी आराधना से सन्तुष्ट होकर गर्दभवाहिनी भगवती

शीतलादेवी प्रकट हुई और उससे वर माँगने को कहा। उस व्यक्ति ने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं तो मुझे एक सुन्दर घोड़ा दे दें।"

यह सुनकर खीजकर देवी बोलीं—"मैं स्वयं तो गधे पर चढ़ती हूँ, तुझे घोड़ा कहाँ से दे दूँ। घोड़ा होता तो मैं ही उस पर क्यों न चढ़ती?" सो भैया! अजर अमर तो हम भी नहीं, अपनी आयु से सौ वर्ष पूर्ण हो जाने पर हम बदल जाते हैं। दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। हमारा पद भी स्थाई नहीं। यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है। भगवान् की अचिन्त्य माया है, उसका पार मैं स्वयं भी नहीं पा सकता। हाँ, जो हमारी शक्ति की बात हो, उसे हम दे सकते हैं। तू जितना अपना बचाव कर सकता हो, उतना कर ले। अपने आपको बचाने के लिये जितनी बातें सोच सकता है, उनसे अपने को निर्भय बना ले।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन्! अब मैं जो-जो वर माँगू उन सब को आप मुझे दें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, माँगो।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छा प्रभो! इन बातों से मुझे अभय कर दें।"

१—मैं आपके रचे हुए प्राणी से न मरूँ।

२—किसी घर, मठ, महल के भीतर न मरूँ और बाहर भी न मरूँ।

३—मेरी मृत्यु न तो दिन में हो न रात्रि के समय हो।

४—किसी अन्य व्यक्ति के रचे हुए से भी मेरी मृत्यु न हो।

५—किसी भी धातु के, काष्ठ के बने, अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो।"

६—पृथ्वी में स्थित मेरे शरीर का अन्त न हो।

७—अधर आकाश में उड़ते हुए या लटकते हुए मेरी मृत्यु न हो।

८—जितने भी मनुष्य हैं, जितने भी पशु-पक्षी हैं, जितने भी जाति के जीव हैं उनमें से किसी से मेरी मृत्यु न हो।

९—पृथ्वी के अतिरिक्त स्वर्गादि अन्य लोकों में रहने वाले देवता, असुर, यज्ञ, नाग, गुह्यक, कूष्माण्ड, बैताल, भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, गन्धर्व, किंपुरुष, किन्नर आदि किसी भी देव उपदेव जाति के जीव से मेरी मृत्यु न हो।

१०—युद्ध में अस्त्र-शस्त्र लेकर कोई भी मेरा सामना न कर सके।

११—तीनों भुवनों का मैं ही एकमात्र अधीश्वर होऊँ।

१२—इन्द्रादि सभी लोकपाल आपका आदर करते हैं, आप की आज्ञा मानते हैं, मेरी भी वैसी ही महिमा हो, मेरी भी आज्ञा को सब लोग बिना ननु नच किये माना करें। सर्वत्र मेरी अप्रतिहत आज्ञा चले। आपको जो अणिमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हैं, वे मुझे भी प्राप्त हों। योगादि के प्रभाव से योगिजनों को कभी भी क्षीण न होने वाला ऐश्वर्य मुझे भी प्राप्त हो। सारांश मैं आप से किसी बात में कम न होऊँ।''

इतने वरों को एक साथ सुनकर ब्रह्माजी घबड़ाये। वे सोचने लगे—''यह तो मुझसे भी बढ़ना चाहता है। मेरी सम्पूर्ण विभूति पर अधिकार करना चाहता है।'' किन्तु करते क्या वचन दे चुके थे। अतः बोले—''बेटा! मैं तेरे तप से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यद्यपि तुम जो-जो वर माँग रहे हो, वे सब मरणधर्मा जीव के लिये परम दुर्लभ हैं। किन्तु तुमने तप ही अभूतपूर्व किया है और मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ, अतः दुर्लभ होने पर भी मैं तुम्हें ये सब वरदान देता हूँ। अपनी ओर से तो मैं तुम्हें ये सब वर देता हूँ। आगे

भगवान् जानें।''

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—''राजन्! इस प्रकार परम दुर्लभ होने पर भी उन सब वरों को हिरण्यकशिपु को देकर अमाघानुग्रह भगवान् ब्रह्माजी दैत्यराज से पूजित होकर अपने लोक हो चले गये।''

हिरण्यकशिपु पहिले से ही अभिमानी था। अब जब उसने ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ वर प्राप्त कर लिये तब तो उसका अभिमान सीमा को पार कर गया। अब तो वह संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ शूरवीर पराक्रमी और निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ समझने लगा। संसार में सभी को तुच्छ समझता। तपस्या के कारण उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान सुन्दर और तेज युक्त हो गई थी। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से दर्प निकल रहा था, वह सभी को अपने सम्मुख तृण के समान समझता था। अब उसने सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में करने का निश्चय किया। उसने सोचा—''यह विष्णु ही देवताओं का मूल कारण है। इसी के बल पर देवता उछल कूद मचाते हैं। देवताओं के कहने से ही मेरे छोटे भाई को वाराहरूप विष्णु ने मार डाला है, अत: मैं इस विष्णु को मारकर अपने भाई का बदला लूँगा देवताओं को आश्रयहीन बनाकर अपना अपना दास बनाऊँगा।'' यही सब सोचकर वह भगवान् के साथ द्वेष करने लगा। उन्हें अपना शत्रु समझने लगा।''

भीतर बाहर नहीं मरूँ निशि तथा दिवसमहँ।
अस्त्र-शस्त्रतैं नहीं कटूँ सब हों मम वशमहँ।।
होहि न मेरी मृत्यु मनुज, मृग, नाग, असुरतें।
नहिँ नभ थलमहँ मरूँ होहि भय नहिँ सुर नरतें।।
प्रभु जस जगमहँ मान्य हैं, तब मेरीहू वृद्धि हो।
बलमहँ तपमहँ तेजमहँ, योगिनि सम सब सिद्धि हो।।

हिरण्यकशिपु का अनुपम ऐश्वर्य

(४५८)

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा।। ☆

(श्री० भा० ७ स्क० ४ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मा बोले-वत्स! बहुत वर दुरलभ माँगे।
तोऊ दुँगो अवसि कर्‌यो प्रन तेरे आगे।।
वरदे अन्तर्धान भये सुररिपु घर आयो।
विधि वर मदमहँ मत्त उपद्रव आइ मचायो।।
सुरपुर यमपुर वरुनपुर, धनपतिपुर निज करे वश।
सबको स्वामी बनि गयो, फीको सबको कर्‌यो यश।।

संसार में एक तो प्रेम से प्राणी वश में होते हैं और दूसरे भय से। प्रेम से तो हृदय से वश में हो जाते हैं और भय से केवल शरीर से और वाणी से वश में होते हैं। प्रेम की अधीनता जीवन पर्यन्त सदा बनी रहती है। किन्तु भय की अधीनता तभी तक रहती है जब तक अपने में शक्ति न हो, निर्बलता बनी रहे। जहाँ सबल हुए विरोध करने की शक्ति आई, तहाँ अधीनता समाप्त हो जाती है और उस पराधीन बनाने वाले के सर्वनाश का प्रयत्न करते हैं। पाशविक शक्ति का कुछ दिन तक बोल बाला रहता है, एक दिन उससे भी बलवान् आकर उसे पछाड़ देता है। उसके मरने पर सब

☆ *नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु ने सम्पूर्ण जीवों के स्वामियों को जीतकर अपने वश में कर लिया। अपने तेज से सभी लोकपालों के स्थानों और तेज को छीनकर वह असुर विश्व को जीतने वाला हो गया।"*

सुखी होते हैं, संसार में सर्वत्र उसकी निन्दा फैल जाती है, किन्तु प्रेमी के मरने पर सभी उसके लिये दुखी होते हैं और उसका यश सौरभ संसार में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, वे यश के कारण अजर अमर हो जाते हैं। यह साधारण लोगों के सम्बन्ध का सिद्धान्त है। भगवान् से तो द्वेष करने वाले भी अजर अमर हो जाते हैं। उनसे कोई काम को, क्रोध को, द्वेष से अथवा लोभ से कैसे भी सम्बन्ध जोड़ ले वही अमर हो जाता है, इसलिये जिस किसी प्रकार मन को श्रीकृष्ण से ही सम्बन्धित कर देना चाहिये।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् ब्रह्माजी से ऐसे-ऐसे दुर्लभ कर पाकर हिरण्यकशिपु अपने घर आया। आते ही उसने इच्छा प्रकट की कि मैं विश्व-विजय के लिये दिग्विजय करने जाना चाहता हूँ। यह सुनते ही हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल इस प्रकार चतुरङ्गिनी सेना सजकर उसके पीछे चलने को उद्यत हुई। उसने डाँटकर कहा—"साथ में सेना तो वे लोग ले जाते हैं, जिन्हें अपने बाहुबल का भरोसा नहीं। मैं तो अकेला ही सम्पूर्ण विश्व को विजय करूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर वह शूरमानी दैत्य हाथ में गदा लेकर दिग्विजय के लिये निकला। पहिले उसने समस्त असुरों को अपना बल दिखाया। असुरों ने एक स्वर से उसे अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया। असुरों को जीत कर उसने स्वर्ग पर चढ़ाई की। देवता तो उसका नाम सुनते ही स्वर्ग को सूना छोड़ कर भाग खड़े हुए। समस्त स्वर्गीय वस्तुओं पर उसका स्वत: ही आधिपत्य हो गया, जब देवता ही हार गये तब उपदेवों की तो बात ही क्या है। गन्धर्व, नाग, गरुड़, सिद्ध, चारण, विद्याधर, पितर, यज्ञ, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, गुह्यक, कूष्मांड, मनुष्य ऋषि, मुनि, मनु, प्रजापति तथा सभी गणों के अधिपति

उसके प्रभाव को देखकर हतप्रभ हो गये। सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार उसने दशों दिशाओं को तीनो लोकों को अपने वश में कर लिया। जिन-जिन के जो-जो सुन्दर स्थान थे, वे सभी इस विश्वविजयी दैत्य ने छीन लिये, संसार में जितने रत्न हैं सभी को चुन-चुन कर इसने अपने भवन में एकत्रित कर लिया अब इसने पृथ्वी पर रहना छोड़ दिया। इन्द्र की अमरावती पुरी में जाकर अपनी राजधानी बनाई।

ब्रह्माजी के वरदान के कारण दैत्य को कोई भय तो था ही नहीं। संसार में अपना कोई शत्रु न रहने से किसी बात की उसे चिन्ता भी नहीं थी। मनुष्य जब चिन्ता और भय से मुक्त हो जाता है तो उसे कला कौशल की वृद्धि, नाना प्रकार की सजावट तथा इन्द्रिय सुखों की बातें सूझती हैं। इसीलिये अब दैत्य स्वर्ग में रहकर वहाँ के सुखों का उपभोग करने लगा।

स्वर्ग की शोभा का तो कहना ही क्या है, जहाँ दिव्य नन्दनवन है, जिसमें कल्पवृक्ष, पारिजात के कभी भी न कुम्हिलाने वाले, सम्पूर्ण स्वर्ग को सदा सुवासित बनाये रखने वाले दिव्य पुष्प खिले रहते हैं, उस वन की शोभा से अमरावती के अनुपम उद्यानों में जिनकी रचना स्वयं साक्षात् विश्वकर्मा ने की है, उन त्रिलोकी शोभा के आश्रय भूत निखिल वैभव सम्पन्न इन्द्र भवनों में देवाङ्गनाओं के साथ वह विहार करने लगा।

यौवन के मद से मदमाती नवीन वय वाली स्वर्गीय सुरललनाओं के सरल संगीतों से उसकी निद्रा खुलती थी और देवता, ऋषि, मुनि, सूतमागधों की भाँति उसकी स्तुति करते थे। उसके रहने की चित्रसारी अटा-अटारी, शयनगृह, पान गृह, क्रीड़ागृह, सब-के-सब सुन्दर सजे-बजे और कला कौशल पूर्ण थे। कनक के बने भवनों में विद्रुम की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं। उनके

आँगन मरकत मणियों से बने हुये थे। दूर से देखने में ऐसे लगते थे मानों समुद्र में हिलोरें उठ रही हों, भवनों की भव्य भीतें स्फटिक मणियों की थी, जिन्हें देखते ही आँखों के सामने चकाचौंध हो जाता। उसमें जितने खम्भे थे वे वैडूर्य मणियों से बने हुये थे, वे भवन क्या थे, मानों मणि मुक्ताओं के आलय थे, शोभा के समुद्र थे। उनकी सजावट कला कोविन्दो ने, सौन्दर्य विशारदों ने बड़ी लगन के साथ चित्त लगाकर की थी। चाँदनी और मोतियो की झालरों के चाकचिक्य से वे झलमल-झलमल कर रहे थे। उनमें स्थान-स्थान पर पद्मरागमणियों के आसन पड़े थे। वे भवन सभी ऋतुओं के लिये सुखदाई थे। उनमें सदा वासन्ती सुषमा विराजमान रहती। न वहाँ गरमी पड़ती थी, न सरदी। वायु, मन्द, सुगन्धित और मनोनुकूल बहती थी। वहाँ शैयायें सुखद, स्वच्छ, सुन्दर तथा सभी सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित थीं। उन पर अत्यन्त ही सुकोमल गुद्‌गुदे गद्दे बिछे हुए थे। दुग्ध फैन के समान, श्वेत शङ्ख के समान, बकुले के पंखे के समान शुभ्र वस्त्र उन पर बिछे थे। सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की सुकोमल कलियों से वे कारागरी के साथ सजाई गईं थी। उनमें मोतियों की झालरें हिल रहीं थीं। अत्यन्त सुख स्पर्श सुकोमल ओढ़ने के वस्त्र और सिरोश पुष्पों की पंखुड़ियों से भी मृदु तकिये इधर-उधर रखे हुए थे। वहाँ तेल अथवा घृत के दीपक नहीं जलाये जाते थे प्रकाशवान् मणियों के प्रकाश से ही वे दिव्य भवन सदा आलोकित बने रहते थे। क्षीण कटि, मृदुहास और सुन्दर दाँतों वाली यौवन और मेरे मधु के मद से मदमाती असंख्यों ललाम ललनायें अपने नूपुर युक्त पदों को ललित गति से उन भवनों को सदा संगीतमय बनाये रखती थीं। उनके नूपुरों की ध्वनि से, करवनियों और आभूषणों की झङ्कार से वे सुर भवन बोलते हुए से-गाते हुए-से प्रतीत होते थे। छम्म-छम्म

करती हुयीं, और रत्न स्थलियों में अपने मनोहर मुखों को निहारती हुईं, सिहाती, इठलाती, नैनों को नचाती देवाङ्गनायें उन भवनों में स्वच्छन्द विहार करती रहती थीं। उन्हें न किसी वस्तु की चिन्ता थी, न आकांक्षा। सभी सामग्रियाँ उन्हें संकल्प मात्र से प्राप्त थीं। पहिले वे देवराज इन्द्र को रिझाती थीं। अब दैत्यराज हिरण्यकशिपु की परिचर्या में सदा लगी रहती थीं।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु जितना ही सौन्दर्य प्रिय था, उतना ही कठोर शासक भी था उसके सम्मुख सिर उठाने का किसी का साहस नहीं होता था। वह महाबली, मनस्वी, ओजस्वी, त्रैलोक्य विजयी तथा संसार में सर्वश्रेष्ठ शूरवीर था। वरदानों के प्रभाव से उसके सम्मुख समर में अस्त्र लेकर शत्रु ठहर नहीं सकता था। जिन देवताओं का तेज, ओज, उसके तेज के सम्मुख दब गया था, वे देवतागण उसके युगल चरणों की सदा सेवा करते रहते थे। उसकी ओर आँख उठाकर कोई देख दे ऐसा साहस किसी का भी नहीं होता था। वह सुन्दर उत्कट गन्ध वाली मदिरा का निरन्तर पान करता था, इसके कारण उसके अरुणवर्ण के बड़े-बड़े विशाल नेत्र मदमाते अलसाये से सदा चढ़े हुए रहते थे। तप में, तेज में, ओज में, पाद में, पराक्रम में तथा शारीरिक बल में उसके समान, त्रिभुवन में तीनों देवों को छोड़कर और कोई नहीं था। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, वायु, अग्नि आदि लोकपाल हाथों में उपहार लिये उसकी सेवा में सदा समुपस्थित रहते थे। वह जब आज्ञा देता तब उठते वह जब कहता तब बैठते। इतना कठोर हृदय होने पर भी वह असुर संगीत का बड़ा प्रेमी था। विश्ववसु, तुम्बरु, आदि गन्धर्व सदा उसकी सभा में उसी का गुण गान करतें रहते थे। ऋषि, मुनि सिद्ध, विद्याधर, आदि उसी की स्तुति करते। राजन्! और की तो बात ही क्या हमें भी उसके गुण गाने पड़े।''

यह सुनकर हँसते हुए धर्मराज बोले—"भगवन्! आप तो भगवान् के अवतार हैं। आप उस दुष्ट के गुण क्यों गाते थे?"

शीघ्रता से नारदजी बोले—"अजी, राजन्! बलवान् के सम्मुख अवतारपना सब धरा ही रह जाता है, उस समय उस रज और तम युक्त तामसी अवतार का ही समय था। सभी अपने-अपने समय पर चमकते हैं। परशुरामजी इतने बड़े-बड़े बली क्षत्रियों के सम्मुख कितने चमके। सहस्त्रबाहु भी तो अवतार ही था किन्तु परशुराम अवतार के सामने उसका तेज हत हो गया वह उनके हाथों मारा गया। कोई क्षत्रिय उनका सामना न कर सका। २१ बार घूम-घूमकर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया। जब उनका समय समाप्त हो गया तो श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख वे पराजित हुए। लज्जित हुए, तेजहीन बनकर तपस्या करने गये। इसी प्रकार उस असुर के सम्मुख मेरा भी अवतारपना भूल गया। मुझे भी उसकी हाँ में हाँ मिलानी पड़ी।

धर्मराज हँसकर बोले—"महाराज! आप कैसे उसकी सभा में पहुँच गये?"

इस पर नारदजी बोले—"राजन्! आप जानते ही हैं मैं संगीत का व्यसनी हूँ। गायन मुझे बड़ा प्रिय है। सदा ही मैं अपनी इस स्वरब्रह्म विभूषित वीणा पर भगवान् के सुमधुर नामों की तान छेड़ता रहता हूँ। तुम्बरू गन्धर्व से मेरी प्रगाढ़ मैत्री है। एक दिन उस गन्धर्व ने उस दुष्ट से कह दिया—"महाराज! एक तुमड़िया बाबाजी है वह बड़ा अच्छा गाता है।" बस फिर क्या था। उसने आज्ञा की उस बाबाजी को पकड़ लाओ।"

तुम्बरू तो मेरे स्वभाव को जानता था, वह मेरे पास आया और बोला—"नारदजी! आजकल स्वर्ग में संगीत की बड़ी सुन्दर गोष्ठी होती है, यह तो असुर नया इन्द्र बना है, यह संगीत का

बड़ा प्रेमी है। अच्छे गायक गन्धर्वों को और अप्सराओं को वह बुलाकर रखता है। एक दिन आप भी चलो।''

राजन्! संगीत प्रेमी को यदि कहीं सुन्दर संगीत श्रवण का सुअवसर प्राप्त हो जाय तो वह उसे कभी छोड़ नहीं सकता। मैंने तुरन्त अपनी वीणा उठाई और तुम्बरू के साथ चल पड़ा। स्वर्ग में जाकर मैंने देखा कि संगीत का सागर बह रहा है। वहाँ हमारा स्वागत कौन करता है। गन्धर्वों में ही जाकर हम बैठ गये। सब लोग गा-गाकर उसे सुना रहे थे। मैंने भी तुम्बरू से कहा—''मैं गाऊँ क्या? उसने संकेत से कहा—''नहीं अभी नहीं।''

बड़ा सुन्दर संगीत हो रहा था, बार-बार मेरा हृदय तड़फने लगा। गाने के लिये मैं छटपटाने लगा, किन्तु तुम्बरू मुझे बार-बार बरज देता था। उसी समय हिरण्यकशिपु ने तुम्बरू की ओर देखा। तुम्बरू ने खड़े होकर कहा—''प्रभो! ये ही मेरे देवर्षि नारद हैं, बड़ा सुन्दर गाते हैं। आज्ञा हो तो इनका भी कुछ हो।''

यह सुनकर उसने गर्व सहित स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। मैं अपनी वीणा सम्हाल कर उस पर अलाप भरने लगा। ज्यों ही मैने राम कृष्ण हरि की तान छेड़ी त्यों ही उसकी दोनों कुटिल भृकुटियाँ चढ़ गयीं और क्रोध के कारण ओंठ काटने लगा। तुम्बरू अपने मुँह में वस्त्र देकर फिराकर हँस रहा था। अप्सरायें डर रही थीं। गन्धर्व उत्सुकता से मेरी ओर देख रहे थे। भगवान् राजन्! आप जानते ही हैं, मैं तो समय वादी हूँ। समय देखकर काम करता हूँ। असमय में बेसुरा राग नहीं अलापता। जब मैंने देखा कि यहाँ इस समय राम-कृष्ण गुण गाने का अवसर नहीं है तो मैंने अपना राग बदल दिया और गाने लगा—''हिरण्यकशिपु, हिरण्यकशिपु, हिरण्यकशिपु, हारी। जय हिरण्यकशिपु हारी।''

अपने नाम का कीर्तन सुनकर वह असुर बड़ा प्रसन्न हुआ।

उसने तुम्बरू से पूछा—"यह तूमड़िया बाबाजी मेरे नाम का कीर्तन कर रहा है, यह तो बड़ा सुन्दर है, किन्तु यह पद के अन्त में हारी-हारी क्या कहता है?"

तुम्बरू ने बात सम्हाल ली। वह बोला—"प्रभो! ये इन अप्सराओं को सम्बोधन करके कहते हैं कि अरी अप्सराओं! हा, देखो कैसा सुन्दर नाम है।" यह सुनकर वह दुष्ट सन्तुष्ट हुआ। सो, राजन्! हमने कीर्तन तो किया था। हिरण्यकशिपु हारी श्री हरि का ही, किन्तु उस दुष्ट को प्रसन्न करने के लिये छल से ही किया था। भगवत् के नाम का कीर्तन कैसे भी किया जाय कल्याणप्रद ही है।

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्!इस प्रकार वह दुष्ट स्वर्ग के सुखों का ही उपभोग नहीं करता था, किन्तु यज्ञों में जो इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओं और लोकपालों को हवि भोग दिया जाता था, उसे भी वह स्वयं ही ग्रहण करने लगा। बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले, धूमधाम से विधि विधान पूर्वक किये हुये यज्ञों से यजन किये जाने पर उन भागों को अपने प्रबल प्रभाव के कारण वह अपहरण करने लगा। जड़ चैतन्य सभी उसके भय से थर-थर काँपते थे।"

एक दिन वह पृथ्वी पर विचरण कर रहा था, उसने देखा बहुत से कृषक हल लेकर पृथ्वी जोत रहे हैं। उसने पूछा—"तुम सब लोग स्वयं इतना परिश्रम क्यों कर रहे हो और उन बैलों को इतना कष्ट क्यों दे रहो हो?"

कृषकों ने कहा—"प्रभो! यदि हम भूमि को जोतें नहीं तो इसमें बीज भी न जमेगा। बीज न जमेगा तो हम सब खायेंगे क्या बिना? खाये भूखों मर जायेंगे, इसलिये भूमि को जोत रहे हैं।"

उसने क्रोध के साथ पूछा—"यदि न जोतो तो?"

कृषकों ने कहा—"अन्नदाता! न जोतें तो भूमि में उर्वरा न

रहेगी, ऊसर हो जायगी। अन्न उत्पन्न न करेगी।''

रोष के स्वर में वह दैत्यराज बोला—''मेरे राज्य में पृथ्वी का इतना साहस? मैं आज्ञा देता हूँ, आज से हलों को तोड़ कर फेंक दो कोई पृथ्वी को न जोते और न उसमें बीज बोये जिसे जिस धान्य, औषधि की इच्छा हो मन से संकल्प कर ले। पृथ्वी घर बैठे उसे दे न देगी तो मैं इस पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।''

उस दैत्य से तो सभी डरते थे, उसी दिन से पृथ्वी बिना जोते बोये उसके राज्यों में यथेष्ट इच्छित अन्न उत्पन्न करने लगी स्वर्ग में जिसकी जब जैसी इच्छा होती तब तैसी ही वस्तुएँ मिलतीं। पाताललोक में ऐसे-ऐसे रत्न भर गये कि वहाँ मणियों और रत्नों की सर्वत्र प्रदर्शनी लग गई।

उसे जब रत्नों की आवश्यकता होती तो वह समुद्रों में नहीं जाता। मानों समुद्र स्वयं अपनी तरङ्गों से अपनी पत्नी नदियों के द्वारा उसके समीप विविध रत्न पहुँचा देते। समुद्र उसे स्वयं रास्ता दे देते। वृक्ष उसके लिये बिना माँगे सब वस्तुओं में स्वादिष्ट पके फल देते। पर्वत अपनी गुफाओं को मणिजटित बना देते कि कहीं विहार करने देवाङ्गनाओं के साथ वह असुर न चला आवे। सारांस कि सभी जड़ चेतन उसके तेज से भयभीत होकर उसके अनुकूल आचरण करने लगे। संसार में वह जो भी उचित अनुचित करता, किसी का साहस नहीं होता था कि कोई उसका विरोध करे। वह अकेला ही सभी लोकपालों के विभिन्न गुणों को स्वयं ही धारण करता था। इन्द्र बनकर स्वयं वर्षा करता। कुबेर बनकर समस्त धनों का आधिपत्य करता। यम बनकर दण्ड देता वरुण बनकर जलचरों पर शासन करता।

यद्यपि उसे सुख थे, तीनों लोकों के भोग उसे यथेष्ट मात्रा में प्राप्त थे। संसार के समस्त धन, धान्य, वाहन, स्त्रियों और शब्द,

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शजन्य विषयों का एकमात्र स्वामी था, त्रिभुवन का एक छत्र सम्राट् और लोकपालों का भी अधीश्वर था, फिर भी विषयों से सदा अतृप्त ही बना रहता था। भोगों से उसकी तृप्ति नहीं होती थी। शास्त्रकारों ने सत्य ही कहा है कि अजितेन्द्रिय को कितनी भी भोग सामग्री मिल जाय, वह सदा अशान्त तथा अतृप्त ही बना रहेगा।

नारदजी कहते हैं—"धर्मराज! संसारी किसी भी प्राणी को इतना बल, इतना, ऐश्वर्य, ऐसा प्रभाव, इतनी भोग सामग्री किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती। यह तो प्रभु का प्रिय पार्षद ही था। विप्र शाप के कारण असुर योनि में उत्पन्न हो गया था। इसलिये उसका सामना कोई कर नहीं सकता था। इस प्रकार ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए उस असुर के बहुत से वर्ष संसारी सुखोपभोगों में ही व्यतीत हो गये।"

छप्पय

शतक्रतु दयो निकारि इन्द्र बनि सुख सब भोगे।
इन्द्र भवनमहँ बसैं स्वर्गको वैभव भोगे।।
मरकत मनिकी भूमि बनी सीढ़ी विद्रुमकी।
नन्दन कानन कल्पवृक्ष वर गन्ध कुसुमकी।।
दुग्ध फैंन सम स्वच्छ मृदु, शैय्या वर वाराङ्गना।
तऊ तृप्ति नहीं असुरकी, नित नव बाढ़ैं कामना।।

दुखित देवों पर दीनबन्धु की दया

(४५९)

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्।। ☆

(श्री० भा० ७ स्क० ४ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

सुर नर वाके उग्र दण्डतें दुखित भये जब।
अन्य शरन नहिँ लखी गये हरिकी शरनहिँ सब।।
क्षीर सिन्धु ढिँग जाइ करें मिलिके सुर तप अति।
जहाँ लगावे लेट शेष शैय्या पै श्रीपति।।
अन्न खाँय नहिँ पिये जल, तजि निद्रा निशि दिन जगे।
वायु पान करि विष्णुको, आराधन करिवे लगे।।

भगवान् का एक रूप है काल। काल स्वरूप कृष्ण जब जैसा चाहते हैं तब तैसा काल उपस्थित कर देते हैं। कभी सात्त्विक काल, कभी राजस् काल और कभी तामस काल के रूप में वे ही कंसारि क्रीड़ा करते हैं। उनके लिये न कोई अपना है न पराया। धर्म-अधर्म सभी उन्हीं के अङ्ग में है, सभी उन्हीं की इच्छा से होते हैं। जब धर्म निर्बल हो जाता है, तब अधर्म की वृद्धि होने लगती है बड़े-बड़े दुष्कृत प्राणी इस पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। वे सब दुष्ट उत्पन्न होकर साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाते हैं। उन दुष्टों के विनाश के निमित्त और साधुजनों के परित्राण के निमित्त तथा धर्म की पुनः

☆ *नारदजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु के उग्रदण्ड से सम्पूर्ण लोक तथा लोकपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गये। उन्हें अन्य कहीं शरण न मिली तो शरणागतवत्सल श्रीहरि की शरण में गये।"*

स्थापना करने के लिये साक्षात् श्रीहरि अवतरित होते हैं। तब वे अधर्म को दबाकर धर्म की वृद्धि करते हैं। अधर्म का जड़मूल से नाश ही कर देते हैं सो बात नहीं। यदि अधर्म का अस्तित्व ही मिटा दें तब तो उसकी कमर ही टूट जाय। तब तो यह संसार चक्र चले ही नहीं। फिर तो सदा विशुद्ध सत्ययुग ही बना रहे, त्रेता, द्वापर, तथा कलि कभी आवें ही नहीं। अधर्म भी अपने स्थान में रहता है और धर्म भी। जब अधर्म अपनी मर्यादा का उन्हीं की इच्छा से अतिक्रमण कर जाता है। तब उसे वे ही स्वयं मर्यादा में लाते हैं। जब तक देवता अपने आपे में रहते हैं, तब तक वे उनकी रक्षा करते हैं। जब असुरों की वृद्धि का समय आ जाता है, तब बली असुर देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ देते हैं, बेचारे देवता इधर-से-उधर मारे-मारे फिरते रहते हैं। भगवान् क्षीर सागर में शेष की शैय्या पर तान दुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मीजी अपने अत्यन्त गुदगुदे उरूओं पर उनके पावन पादपद्मों को रखकर अपने अत्यन्त ही कोमल कर कमलों से उनके तलुओं को सुहराती रहती हैं। योगनिद्रा का आश्रय लेकर रमारमण श्रीकान्त खर्राटे भरते रहते हैं। कोई कितना ही चिल्लाओ पुकारो उठते ही नहीं, पड़े-पड़े ही कह देते हैं—"काल की प्रतीक्षा करो।" इससे सिद्ध यही हुआ कि बली अबली बनाने वाला काल ही है और काल कोई अन्य वस्तु नहीं। वे कृष्ण ही काल स्वरूप हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु तो भूमि, स्वर्ग तथा पाताल तीनों लोकों का एकछत्र शासक बन गया था। देवताओं का वह स्वभाव से द्वेषी था। उसकी दृढ़ धारणा थी कि मेरे भाइयों को विष्णु ने देवताओं के कहने से ही मारा है। ये देवता और विष्णु ही असुर कुल के कंटक हैं। ये ही असुरों की वृद्धि नहीं देख सकते, अतः जैसे हो सके तैसे इनका ही विनाश करना चाहिये। यह सोचकर वह साधारण प्रजाओं का तो

प्रेमपूर्वक पालन करने लगा। उन्हें तो सब इच्छित पदार्थ देने लगा, किन्तु देवताओं को वह बहुत दुख देता। उनके साथ विषम व्यवहार करता। इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोक पालों के साथ वह कठोरता करता, उनसे झाड़ू लगवाता। सर्वदा उनका अपमान करता। त्रिलोकी को छोड़कर वे जायँ भी तो कहाँ जायँ। हिरण्यकशिपु से कोई बली होता तो उसके समीप जाकर अपना दुख रोते, विपत्ति की बातें सुनाते, किन्तु वह तो सबका अधीश्वर बना हुआ था। देवता एक बार लुक छिपकर ब्रह्माजी के समीप गये और दीन होकर बोले—"भगवन् इस हिरण्यकशिपु को किसी प्रकार मारिये। यह हमें अत्यधिक कष्ट दे रहा है।"

यह सुनकर अपनी भूरी-भूरी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी बोले—"भैया! मुझे सब पता है। किन्तु मैं स्वयं बड़े धर्म संकट में पड़ा हूँ। अपने हाथ से विष का भी वृक्ष लगाकर बुद्धिमान् पुरुष उसे स्वयं नहीं काटते। मैं ही तो उसे इतने बड़े-बड़े दुर्लभ वर दिये हैं। अब मैं ही कैसे उसे मार सकता हूँ। फिर मारने का काम मेरा नहीं। मैं तो पैदा करना, वरदान देना ही जानता हूँ। मारने का काम तो रुद्रदेव का है उनके समीप जाओ।"

हताश होकर देवता रुद्र के समीप गये। सब आदि से अन्त तक कथा सुनाई। सुनकर कामारि कपर्दी बोले—"देखो भाई! मेरा किसी से राग-द्वेष तो है ही नहीं। मैं बिना बात बैठे ठाले किसी को मारता रहूँ यह बात तो है नहीं। जब जिसका काल आ जाता है मैं उसका संहार कर देता हूँ। फिर मैं ब्रह्माजी की सृष्टि से बाहर तो हूँ नहीं। उनका पुत्र ही ठहरा। जब मेरे पिता ने उसे वर दिया है कि तुम मेरी बनाई सृष्टि के द्वारा न मरोगे तो मैं अकाल में उसे कैसे मार सकता हूँ और कैसे पदच्युत कर सकता हूँ?"

दोनों देवों की ऐसी बातें सुनकर देवताओं को बड़ी निराशा हुई। किसी ने भी उन्हें शरण नहीं दी। किसी ने भी दया करके

उनके दुख को दूर करने की आशा नहीं दिलायी। जब वे सब ओर से निराश हो गये, जब उन्हें अन्यत्र कहीं भी शरण न मिली तब अशरणशरण शरणागतवत्सल भगवान् वासुदेव की शरण गये।

भगवान् उन दिनों क्षीरसागर में शेष शैय्या पर शयन कर रहे थे। विपत्ति के मारे देवता इक्षु समुद्र, सुरा समुद्र, और धृत समुद्र को लाँघकर क्षीर समुद्र के तट पर पहुँचे, चारों ओर उन्होंने आँखें फाड़-फाड़कर भगवान् को देखा तो भी उन्हें न शेष शैय्या दीखी और न उसके ऊपर, शयन करने वाले शेषशायी श्रीहरि ही के दर्शन हुए। जिनके मन में राग-द्वेष भरा है, उनको भगवान् के दर्शन कैसे हो सकते हैं? भगवान् के दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। अनन्य भाव से उन्हीं की शरण में जायें, कृपा करके वे ही अपना लें, तभी उनके दर्शन सम्भव हैं। देवताओं ने जब वहाँ श्रीहरि को नहीं देखा तो समुद्र के किनारे ही आसन जमाकर वे घोर तप करने लगे। वैसे तो दूध के समुद्र का किनारा ही था यथेष्ट दूध पीते चरु बनाकर अग्नि द्वारा उसे उड़ाते किन्तु, फिर भगवान् के दर्शन कैसे होते, विपत्ति से कैसे छूटते, अतः वे भोजन पान सभी का परित्याग करके केवल वायु भक्षण करके घोर तप करने लगे।

भगवान् तो सो ही रहे थे। हिरण्यकशिपु की ओर से उन्होंने आँखें जान-बूझकर बन्द कर ली थीं। जब देवताओं ने भगवान् के द्वार पर ही धरना दिया, उनके घर पर ही अनशन आरम्भ कर दिया तो भगवान् क्या करते? दया के सागर ठहरे, अपने दयालु स्वभाव से विवश थे। किन्तु हिरण्यकशिपु का काल समाप्त नहीं हुआ था। उसके पाप पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे थे, असमय में वे किसी का संहार कैसे करते। देवताओं को भी आश्वासन था अभी नींद भी पूरी नहीं हुई थी। योगनिद्रा उनके आश्रय में पड़ी थी। अतः शैय्या पर लेटे-लेटे वहीं से आँखें बन्द किये ही भगवान् देवताओं को आश्वासन देने लगे। उन्हें दर्शन इसलिये नहीं दिये कि अभी इन्होंने

अपने किये का पूर्ण प्रतिफल प्राप्त नहीं किया है। अभी ये दर्शनों के अधिकारी नहीं हुए। अभी मैं उन्हें दर्शन दे दूँ और सम्मुख आए पर संकोच में पड़ जाऊँ। तो असामयिक कार्य हो जायगा, जिसे मैं कभी करता नहीं। देवता बार-बार कह रहे थे—"हमें श्रीहरि तो दिखाई देते नहीं, हम उस दिशा को ही नमस्कार करते हैं जिस दिशा में चराचर जगत् के ईश्वर सर्वात्मा श्रीहरि निवास करते हैं। जिन्हें प्राप्त करके निर्मल शान्त संन्यासी गण पुनः नहीं लौटते।"

भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, जो मुझे जिस भाव से प्राप्त होते हैं, उन्हें मैं उसी भाव से भजता हूँ। देवताओं को अकस्मात् एक दिन मेघ के समान गम्भीर आकाशवाणी सुनाई दी। वह साधुओं को अभय प्रदान करने वाली थी और जिसके गम्भीर घोष से दशों दिशाओं गुञ्जायमान हो गई थीं। आकाशवाणी के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे। वह आकाशवाणी कह रही थी "हे देवताओं! तुम सबका कल्याण होगा, तुम डरो मत निर्भय हो जाओ। निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सो जाओ।"

हाथ जोड़कर इन्द्र ने उसी दिशा को प्रणाम करके कहा—

"महाराज! भय का कारण उपस्थित होने पर भय होता है। हम तो इस अधम असुर के उत्पादों से अत्यधिक आकुल हो रहे हैं।" अधीर होकर ही आप अशरण शरण की शरण में आये हैं।"

आकाशवाणी ने कहा—"कोई बात नहीं, भय प्राणियों को तभी तक होता है, जब तक वे मेरी शरण में आते। जो मेरी शरण आ गये, जिन्हें मेरे दर्शन हो गये उनके सब दुख दूर हो गये। मेरा दर्शन प्राणियों के लिये सब प्रकार के मङ्गलों का साधन है।"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वह दुष्ट हिरण्यकशिपु हमसे पानी भराता है, झाड़ू लगवाता है, हमारे यज्ञ भाग को 'ी खा जाता है, भाँति-भाँति की विविध यातनायें देता है और हम सबका अ ..... ।

बीच में ही आकाशवाणी ने कहा—"मुझे, बताने की

आवश्यकता नहीं है। मुझे उस अधम दैत्य की सम्पूर्ण दुष्टता का पता है। मैं उसकी सभी चौकड़ी भुला दूँगा, उसके गर्व को खर्व कर दूँगा।''

दीनता के स्वर में अधीर होकर देवताओं की ओर से इन्द्र ने कहा—''कब कर दोगे महाराज! अब तो ये दुःख सहे नही जाते। सहनशीलता की भी सीमा होती है।''

आकाशवाणी ने कहा—''अभी उसके विनाश का समय नहीं है, इसलिये मैं अभी कुछ नहीं कर सकता। जैसे इतने दिन सहन किया है, कुछ काल और भी सहन करो। समय आते ही मैं इसका चकनाचूर कर दूँगा। इसे यम सदन का अतिथि बना दूँगा।''

देवताओं ने कहा—''महाराज! वह समय कब आवेगा? कैसे जानें कि अब इसके विनाश का समय सन्निकट आ गया है।''

आकाशवाणी ने कहा—''देखो, जब कोई प्राणी अकारण ही देवताओं से द्वेष करने लगे, देवताओं की पूजा बन्द कर दे, देव की निन्दा करने लगे, गौओं को दुःख दे, उन्हें पीड़ा पहुँचावे, ब्राह्मणों को हृदय से शत्रु समझे, उनका प्रभाव घटाने को सतत प्रयत्न करता रहे, उनसे हृदय से द्वेष करने लगे, साधुओं में अश्रद्धा करे, अवाच्य वचन बोले, धर्म को अवनति का कारण मानने लगे, धर्म से च्युत हो जाय तथा मुक्त जगदीश्वर से विद्वेष करने लगे, तब समझना चाहिये वह शीघ्र ही नष्ट होने वाला है।''

इन्द्र ने कहा—''यह सब तो वह कर रहा है।''

भगवान् ने कहा—''कर तो रहा है, किन्तु अभी पूर्ण रूप से नहीं करता। अभी कुछ कमी है। थोड़े पाप से शीघ्र विनाश नहीं होता। यों करने को तो ऐश्वर्य के मद में भरे तुम भी ये सब काम करते थे। सत्य पूछा ज़ाय तो तुम अपनी करनी से ही अपने पद से च्युत हुए। असुर भी उपदेव हैं, उनसे तुम द्वेष करते ही हो, उन्हें नीचा दिखाने को भाँति-भाँति के प्रयत्न करते हो। कभी-कभी

पाखण्डमत का आश्रय लेकर तुम भी देव विरुद्ध आचरण करने लगते हो। पृथु के यज्ञ में पाखण्डमत का तुमने ही प्रचार किया। देवविरुद्ध नास्तिकों का-सा रूप तुमने ही धारण किया था। श्रीकृष्णावतार में तुमने ऐश्वर्य के मद में भरकर मेरी गौओं का नाश करने के लिये सावर्तक मेघों को तुमने ही प्रेरित किया था। गौवंश का विनाश करने का तुमने संकल्प किया था। विश्वरूप ब्राह्मण ही था, उसका असावधानी में तुमने ही सिर काटा था। साधुओं की तपस्या भङ्ग करने तुम सदा ही स्वर्ग से सुन्दर-से-सुन्दर अप्सरायें, बसन्त कामदेव आदि को भेजते रहते हो। अपने स्वार्थ के लिये धर्म की भी अवहेलना कर देते हो। मैंने शिक्षा देने को व्रज में तुम्हारा यज्ञ बन्द किया था, इससे तुम मुझे बुरा भला कहने लगे थे, मुझसे द्वेष करने लगे थे। सब-से-सब पाप तुमने भी किये हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है कि तुमने ये सब विवश होकर कम मात्रा में किये हैं, करके पश्चात्ताप किया है और पापों का प्रायश्चित भी किया है। इससे तुम्हारा विनाश नहीं हुआ है। तनिक विपत्ति आकर ही भोग समाप्त हो गये हैं। जब इस हिरण्यकशिपु के ये पाप पराकाष्ठा पर पहुँच जायेंगे। तब मैं इसे तुरन्त मार डालूँगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।''

इस पर देवताओं ने कहा—''भगवन्! पाप पराकाष्ठा पर पहुँच गये है, उसे कैसे जानें? इसकी कोई मोटी-सी पहिचान बता दें।''

यह सुनकर आकाशवाणी ने कहा—''देखो, पापों के पराकाष्ठा पर पहुँचने की मोटी पहिचान यही है कि जब मनुष्य भगवत्भक्तों से द्वेष करने लगे। भगवान् के भक्तों से द्वेष साधारण पापी नहीं कर सकता। जो महापापी होगा, जिसके पाप सीमा को पार कर गये होंगे, वहीं भक्तों का अनिष्ट सोचेगा, वही उनसे द्वेष करके उन्हें यातना देगा। मैं बड़े-बड़े पापों को क्षमा कर सकता हूँ, मेरा भी कोई अपराध करे तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किन्तु

भक्तापराधी को मैं कभी क्षमा नहीं कर सकता। उसकी अवहेलना मैं नहीं कर सकता। जब भक्तों से द्वेष करने लगे समझना चाहिये इसके पापों का घड़ा भर गया।''

इस पर इन्द्र बोले—''भगवन्! हम सब आपके भक्त ही तो हैं, हमसे तो वह द्वेष करता ही है।''

आकाशवाणी ने कहा—''भैया! तुम सब भक्त तो हो भक्ताग्रगण्य नहीं हो। जब यह भक्ताग्रगण्य से द्वेष करेगा, उसे भाँति-भाँति की यातना देगा, तब मैं इसे मार डालूँगा।''

इन्द्र ने पूछा—''महाराज! भक्ताग्रगण्य कहाँ उत्पन्न होगा, उसके साथ सम्भव है इसकी भेंट न हो। क्योंकि भक्त तो दुष्टों से शक्ति भर बचे रहते हैं, उनके समीप यथाशक्ति नहीं जाते।''

इस पर आकाशवाणी ने कहा—''भक्ताग्रगण्य बाहर कहीं न होगा। उसके घर में ही उत्पन्न होगा। उसका चौथा पुत्र होगा प्रह्लाद। जब यह अपने भगवद् भक्त सगे पुत्र से द्वेष करेगा, तभी मैं इसे मार डालूँगा।''

देवताओं ने कहा—''महाराज! मारेंगे कैसे? इसे तो ब्रह्माजी से बड़े-बड़े वर प्राप्त हैं।

आकाशवाणी ने कहा—''इसकी तुम चिन्ता मत करो। ब्रह्माजी तो मेरे बच्चे ही हैं मैं तो उनकी सृष्टि से पृथक् ही हूँ, अत: ब्रह्माजी के वर से तेजस्वी होने पर भी मैं उनके वरों की रक्षा करते हुए बड़ी तिकड़मी से इसका अन्त कर दूँगा। इसे मृत्यु के मुख में डाल दूँगा।''

देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—''राजन्! इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई। अब फिर वह सुनाई नहीं दी। उसी देववाणी को सुनकर देवताओं के सभी दुख दूर हो गये। उनका उद्वेग शान्त हो गया। उन्हें विश्वास हो गया कि भवभयहारी भगवान् हम भक्तों पर कृपा करेंगे। हमारे शोक सन्ताप को शान्त

करेंगे। अभी जितने समय का दु:ख शेष है उसे सहें, अब दु:ख की सीमा तो ज्ञात हो गई। अब तो हमें भक्ताग्रपण्य प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करनी चाहिये, यह संसार आशा के ही ऊपर अवलम्बित है। जहाँ भक्तवर प्रह्लादजी का जन्म हुआ, तहाँ हमारा सभी दुख मिट जायगा।

हिरण्यकशिपु की स्त्री गर्भवती तो है ही। नारदजी से हमें यह समाचार मिल ही गया है कि उसके गर्भ में भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी हैं।'' यही सब सोचकर वे निश्चिन्त हो गये। उन्होंने समझ लिया कि अब तो यह हिरण्यकशिपु मर ही गया। केवल अन्तिम साँसें ले रहा है। यह सोचकर वे अपने-अपने स्थानों को चले गये।''

छप्पय

कछुक कालमहँ तहाँ, भई सहसा नभ वानी,
देव दुखित मति होहु बात मैने सब जानी।।
वेद, देव, गो, विप्र साधु सन द्वेष करे जब।
मोतें बाँधे वैर असुर संहार करूँ तब।।
शान्त दान्त निर्वैर सुत, भक्त वीर प्रह्लाद मम।
मारूँ तब हौं तुरत ही, देइ यातना जब अधम।।

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी

(४६०)

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः।। ✯

(श्री भा० ७ स्क० ४ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

नभवानी सुनि देव लौटि निज-निज घर आये।
हिरनकशिपुने देव भक्त इत अधिक सताये।।
चौथे ताको पुत्र अवस्थामहँ छोटो अति।
किन्तु भक्तिमहँ श्रेष्ठ आसुरी नहिँ जाकी मति।।
विद्या, कुल धन रूपको, जाके नहिँ अभिमान चित।
सुहृद् सदाचारी सरल, सब सद्गुन जामें निहित।।

समस्त सद्गुण वहाँ स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं, जहाँ भगवान् की भक्ति हो। भक्ति समस्त गुणों की खानि है। सद्गुण भक्ति के आश्रय से रहते हैं। अभक्तों में गुण कहाँ? वे तो मन के पीछे दौड़ने वाले होते हैं। मन की स्वाभाविक रुचि विषयों में है। विषय दुख के मूल हैं, अतः अभक्त के अजितेन्द्रिय के समीप सद्गुण कैसे रह सकते हैं। वह तो सदा अशान्त, चिन्तित और दुखी बना रहता है। भक्त सदा प्रसन्नचित्त बना रहता है, वह सद्गुणों के लिये प्रयत्न नहीं करता। वह निरन्तर भगवद्भक्ति में तल्लीन बना रहता है। सद्गुण आकर स्वयं ही उसके स्वच्छ हृदय में निवास करते हैं।

✯ *श्रीनारदजी महाराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! उस दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अद्भुत चार पुत्र थे। उन सबसे प्रह्लादजी छोटे होने पर भी गुणों में महान् थे। वे साधु महात्माओं की सेवा करने वाले थे।"*

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु के संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद ये चार पुत्र थे। इनमें प्रह्लादजी अवस्था में सबसे छोटे होने पर भी गुणों में सबसे सर्वश्रेष्ठ थे। बाल्यकाल से ही सरल, सुशील और अत्यन्त ही नम्र थे। उन्हें छोटे-से-छोटे भी ब्राह्मण मिल जाता तो उसे भी वे श्रद्धा सहित प्रणाम करते। सदाचार की तो वे सजीव साकार मूर्ति ही थे। खेल-खेल में कभी किसी-से-किसी कार्य के लिये कह देते तो शक्ति भर, प्राण रहते, उस प्रतिज्ञा का पालन करते। कभी हँसी में भी भूल में भी झूठ नहीं बोलते थे। वे अपनी सभी इन्द्रियों को अपने वश में किये रहते थे। इन्द्रियाँ उनके अधीन थीं, वे इन्द्रियों के अधीन नहीं थे। वे सभी प्राणियों में आत्मभाव रखते थे। हमें कोई कुवाक्य कह दे तो कष्ट होता है। इसलिये वे कभी भी किसी को कड़वे वचन नहीं कहते थे। जैसे हमारा कोई सम्मान करे तो हमें उसके शील स्वभाव से प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार वे भी सबका आदर करते थे वे सभी के प्रिय थे, न वे स्वयं किसी से द्वेष करते थे न दुष्टों को छोड़कर अन्य कोई भी उनसे द्वेष रखता था। वे सबके प्यारे दुलारे थे। जिनके संसर्ग में वे आते थे, वे सभी उन्हें अपना सुहृद् समझते थे। साधु सन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषों और भगवद्भक्तों के चरणों में दूर से ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगते। वे सदा विनीत बने रहते, जो अपने से छोटे दीन, दुखी तथा अनाथ होते उन पर पिता की भाँति स्नेह करते, यथाशक्ति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। उनके दुःखों को दूर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते। जो अपने बराबर वाले होते, उनसे सगे सहोदर भाई के समान प्यार करते। यह अभिमान कभी मन में नहीं लाते कि हम राजा के पुत्र हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, सम्पन्न हैं, अपने से छोटे लोगों के साथ कैसे मिलें। बराबर वालों को यह प्रतीत ही नहीं होता था कि ये राजकुमार हैं, हम इनकी प्रजा हैं। वे उनमें ऐसे घुल-मिल जाते कि सभी साथी उन्हें अपना सहोदर भाई ही समझते। अपने से जो विद्या में, तप में, तेज मे, गुणों में बड़े

होते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करते। उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करते और उनमें आदरबुद्धि रखते।

वे जन्म से ही विद्वान् थे। बिना पढ़े ही उन्हें सब विद्यायें आती थीं। किन्तु विद्या का मद छू भी नहीं गया था। धन के लिये तो पूछना ही क्या, राजपुत्र ही ठहरे। ऐसे वैसे राजा के पुत्र नहीं। उस हिरण्यकशिपु के प्यारे पुत्र थे, जिसने तीनों लोकों को अपने बाहु बल से जीत लिया था। जिसके नाम से इन्द्रादि लोकपाल थर-थर काँपते थे। संसार के समस्त बहुमूल्य रत्न जिसके भवन में एकत्रित थे, उस इतने भारी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट् के सुत होने पर भी उन्हें धन का अभिमान छू भी नहीं गया था। देखने में वे कामदेव के समान सुन्दर थे। उनके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर, सुडौल, सुगठित और जैसे उतार-चढ़ाव के होने चाहिये, वैसे थे। उन्हें जो भी एक बार देख लेता वही मुग्ध हो जाता। इतने अधिक सुन्दर होने पर भी उन्हें रूप का तनिक भी गर्व नहीं था। वे अपने को साधारण जनों के समान समझते थे। वे महर्षि कश्यप के कुल में उत्पन्न हुए थे। फिर भी उन्हें अपने कुलीन होने का अभिमान नहीं था। साधारण दैत्य बालकों के साथ हँसते खेलते और उन्हीं में घुल-मिल जाते थे। किसी बात का उन्हे न गर्व था न अभिमान।

प्रह्लादजी बड़े धैर्यशाली थे। किसी भी दुर्घटना तथा विपत्ति को देखकर वे घबराते नहीं थे। उन्हें शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शजन्य सांसारिक सुखों की तनिक भी स्पृहा नहीं थी, न वे यही चाहते थे कि उन्हें स्वर्गीय सुख, विमान, नन्दन कानन में विहार, अप्सरायें तथा पान करने को अमृतादि पदार्थ प्राप्त हों। इन सब सुखों से वे सदा उदासीन बने रहते थे। वे सिद्ध ही कहे जा सकते थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, प्राण, मन और शरीर सभी संयत थे। वे कामनाहीन, निष्काम और संसारी पदार्थों से निर्लिप्त थे। अधिक क्या कहें यही कहना पर्याप्त होगा कि वे असुर होने पर भी आसुरी भावों से सर्वदा रहित थे।

प्रह्लादजी की देवर्षि नारद के मुख से इतनी प्रशंसा सुनकर

धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"भवगन्! बड़ा आश्चर्य है कि एक असुर कुल में उत्पन्न बालक में जन्म से ही ऐसे गुण हों। उनमें ये इतने गुण किस साधन से कैसे आ गये?"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! मैं पहिले बता तो चुका हूँ। ये सब गुण किसी साधन से प्राप्त नहीं होते, उनकी ही कृपा से कोई-कोई उन्हें प्राप्त कर सकता है देखिये, प्रह्लादजी को हुए कितने वर्ष हो गये। लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गये, फिर भी उनके गुण, उनकी विमल कीर्ति पृथ्वी पर अभी तक ज्यों-की-त्यों बनी है और सदा ऐसी बनी रहेगी भगवान् में और भगवान् के भक्तों में कोई भेद नहीं होता। जैसे भगवान् के गुण नित्य हैं वैसे ही भक्तों के गुण भी नित्य हैं। प्रह्लादजी के महान गुणों का स्मरण करके पण्डितजन आज तक उनका अनुकरण करके भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। राजन्! प्रह्लादजी के गुणों के सम्बन्ध में अब मैं आपसे क्या कहूँ।

शेषजी की भाँति मेरी ही सहस्त्रों जिह्वायें होती तो भी मैं प्रह्लादजी के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता था। फिर अब तो मेरे एक ही जिह्वा है। महाराज! उनके गुणों की महत्ता इसी से समझ लें कि देवता उनके प्रतिपक्षी हैं, किन्तु जहाँ उनके समाज में भी भगवद्भक्ति का प्रसङ्ग चलता है वहाँ उदाहरण में प्रह्लादजी का ही दृष्टान्त दिया जाता है, उन्हीं के गुणों का अनुकरण किया जाता है। इस विषय में प्रह्लादजी का क्या मत है, उन्होंने ऐसे अवसर पर कैसे आचरण किया था, ये बातें देवसभा में प्रमाण के रूप में उपस्थित की जाती हैं और प्रह्लादजी का आचरण आदर्श रूप में माना जाता है। जिनका इतना आदर जब शत्रु करते हैं तो आप जैसे निर्वैर अजातशत्रु उनका आदर करें, उनके आचरण को प्रमाणभृत मान लें तो इसमें आश्चर्य की ही कौन-सी बात है।

प्रह्लादजी का प्रभाव अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त है। उन सबका तो अनन्तकाल तक वर्णन करते रहें तो भी पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। संक्षेप में यही कहना यथेष्ट होगा कि उनकी भगवान्

वासुदेव में सहज स्वाभाविक प्रीति थी। ये गुण तो निर्देश मात्र किये हैं। इन गुणों से ही उनका माहात्म्य सूचित होता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! प्रह्लादजी भक्तों के प्रतीक हैं। भक्तिशास्त्र में भक्तों के जो-जो गुण, जो-जो आचरण, जैसे उनकी रहनी-सहनी वर्णन की है, ये सब एकमात्र प्रह्लादजी के देह में प्रकट हुए। उनकी रहनी से ही भक्तों की रहनी, उनके व्यवहार से ही भक्तों के व्यवहार जाने जा सकते हैं। अतः अत्यन्त संक्षेप में, संकेत रूप से मैं उनकी रहनी-सहनी और मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कराऊँगा। क्योंकि भक्तिमार्ग के पथिकों को इससे बड़ा सहारा मिलेगा। वे इन बातों को समझकर अपने जीवन में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिये रो-रोकर प्रभु से प्रार्थना करेंगे। प्रभु तो वांच्छा कल्पतरु ही ठहरे। उनसे तो जो भी जिस वस्तु को हृदय से माँगता है, उसे वही दे देते हैं। अतः आप संक्षेप में प्रह्लादजी की बाल्यकाल की रहनी सुन लीजिये।"

छप्पय

सुख दुखमहँ सम सदा सत्व स्वाभाविक जामें।
मिथ्या मायिक भोग होहिँ अनुरक्त न तामें।।
तन मन इन्द्रिय प्रान रखें नित अपने वशमहँ।
स्वाभाविक ई प्रीति श्यामसुन्दरके यशमहँ।।
सतत हियेमहँ जरि रही, ज्योति प्रेमके जोग की।
भक्ति भाव भावित हृदय, नहीं कामना भोग की।।

भगवद्भक्तों की दशा

(४६१)

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्।।
आसीनः पर्यटन्नश्नन्शयानः प्रपिबन्ब्रुवन्। ✯
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः।।

(श्री० भा० ७ स्क० ४ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

शत्रु मित्रको भाव कबहुँ मनमहँ नहिं आनें।
जिनकी शुद्धाभक्ति निरखि सुर लोहो मानें।।
सोवत जागत चलत उठत खावत अरु पीवत।
रहें अनमने बने सबनि सिरीं से दीखत।।
गावें नाचें प्रेमतें, हृदय सदा श्रीहरि बसें।
कृष्ण भूत सिर पै चढ्यो, कबहूँ रोवें पुनि हँसें।।

जब जीव प्रकृतिस्थ होता है, अपने जीव स्वभाव में स्थित रहता है, तब उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान रहता है। वह यथावत् क्रिया करता है। शिष्टता से व्यवहार करता है, लोकमर्यादा का पालन करता है किन्तु जब उसके ऊपर कोई भूत,

---

✯ *श्री नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! बालक होने पर भी प्रह्लादजी ने खेल-कूद को छोड़ दिया था, हरि ध्यान में तन्मय हो जाने के कारण वे जड़वत् बन जाते थे। उनके मन को कृष्ण रूप ग्रह ने ग्रस लिया था। उन्हें यह संसार ऐसा दिखाई नही देता था जैसा संसारी लोगों को दीखता है। वे उठते-बैठते, घूमते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, बोलते-चालते इन सब कामों को करते हुए भी इनके ज्ञान से शून्य बने रहते थे, क्योंकि वे मन से गोविन्द का आलिङ्गन करते रहते थे।"*

प्रेत, पिशाच या अन्य ग्रह का आक्रामण हो जाता है तो वह अपने स्वभाव को छोड़कर अंट-संट व्यवहार करने लगता है। उसके ऊपर चढ़ा ग्रह जो कराता है करता है। जैसे आचरण अपनी प्रकृति में रहकर करता था, उससे विलक्षण ही आचरण वह करने लगता है।

श्री नारदजी राजा युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! महाभागवत प्रह्लादजी का स्वभाव जन्म से ही अलौकिक था प्राय: बालकपन में सभी को खेल अत्यन्त प्रिय होता है, किन्तु प्रह्लादजी जब बालक थे, तभी से बड़े गम्भीर थे। वे गुल्ली, डण्डा, आँख-मिचौनी, भड्डू, लभैरवंशी आदि जो बालकों के स्वाभाविक और प्रिय खेल हैं, उन्हें कभी भी नहीं खेलते थे। खेल में भी वे गोपाल जी की मूर्ति बनाकर उनका पूजन-अर्चन करते, भोग लगाते, प्रसाद बाँटते और सभी से रामधुनि कराते वे एकान्त में जाकर भगवान् का ध्यान करते। भगवत् ध्यान में ऐसे तन्मय हो जाते कि यह जगत् काला है, पीला है या लाल है, इसके पदार्थ भोग्य हैं इसमें यह प्रिय हैं यह अप्रिय हैं, इन बातों का उन्हें कुछ भी ज्ञान न रहता। वे तो सम्पूर्ण जगत् को हरिमय निहारते। सभी में भगवद् बुद्धि करके सभी की वन्दना करते। वे सब कुछ स्वभावानुसार मन्त्र की भाँति बिना कुछ संकल्प से क्रियाओं को करते रहते, किन्तु उनकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। जैसे हम स्वभावानुसार साँस लेते हैं, पलक मारते हैं, खुजली होती है तो खुजाते हैं, उसी प्रकार शरीर से उनकी क्रियायें होती रहतीं। मन सदा मनमोहन की माधुरी में मत्त बना रहता। कभी चल रहे हैं तो चले ही जा रहे हैं। पागल सिर्री विरक्तों की भाँति कोई संकल्प नहीं। कोई गन्तव्य लक्ष्य नहीं, कहीं पहुँचने का निश्चय नहीं। पैर अपने आप चले जा रहे हैं। जहाँ रुक गये, कब तक रुके रहे कुछ पता नहीं। बैठ गये तो बैठे ही हैं, लेट गये तो लेटे ही हैं। माता ने प्रसाद दे दिया तो पा लिया, उसमें अच्छे बुरे, स्वादु, अस्वादु, सरस, नीरस का

विवेक नहीं, विचार नहीं। जल मिल गया पी लिया। गाने लगे तो भगवान् के मङ्गलमय मधुमय मधुर नामों को तथा उनके गुणों को

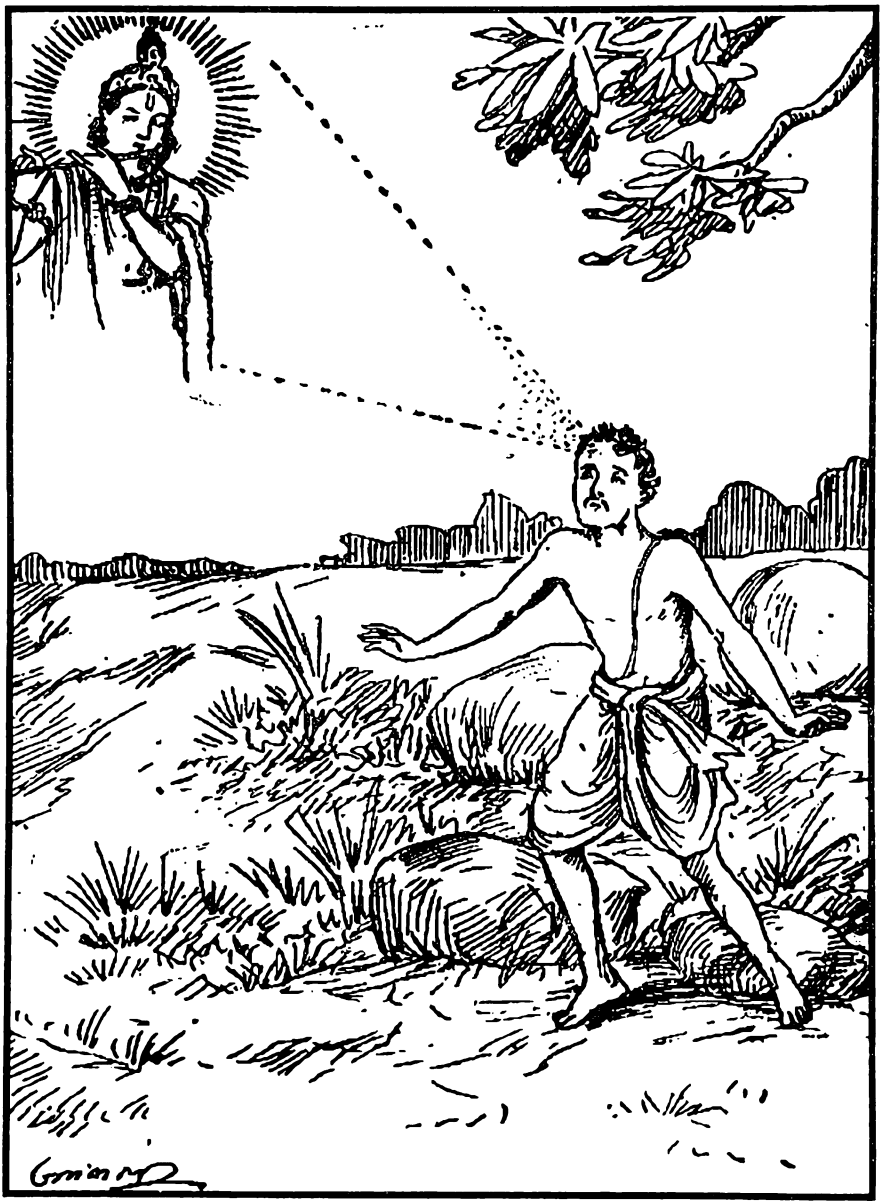

गाते ही रहे। मौन हो गये तो प्रहरों समस्त इन्द्रियों को रोककर चुपचाप मौन ही धारण किये हैं।

कभी-कभी चित्त में ग्लानि हो गई। हा भगवन्! बैकुण्ठनाथ ने कहाँ लाकर मुझे इस भवाटवी में पटक दिया। जहाँ चित्त में यह चिन्ता चुभी वहीं हृदय विदीर्ण हो गया। प्रियतम के विरह का अनुभव होते ही हृदय भर आया। आँखों से अश्रुओं का जो प्रवाह बहा कि फिर बहता ही रहता। दोनों नेत्रों से निरन्तर नेह का नीर निकल-निकल उनके नवनीरद के समान श्री अङ्ग को गीला बना देता। हा, श्यामसुन्दर मुझे संसार सागर में छोड़कर स्वयं छिप गये हैं, यह अनुभूति होते ही अश्रु धारा फूट पड़ती। वे प्रहरों रोते रहते, तड़फते रहते, आहें भरते रहते। इसके विपरीत कभी हृदय में भगवत् स्मृति जाग्रत हुई और हृदय से हृदय सर्वस्व जीवनधन अपने श्रेष्ठतम प्राणनाथ का संस्पर्श हुआ। उन्हें भावजगत् में आलिङ्गन कर लिया तो उस संस्पर्शजन्य सुख का अनुभव करके खिलखिलाकर पागलों की भाँति हँस पड़ते। हँसते तो हँसते ही रहते। दूसरा देखने वाला इन्हें एकान्त में अकारण इतना हँसते देखकर पागल समझता और सोचता—"अवश्य ही इसे कोई मस्तिष्क सम्बन्धी रोग है।"

कभी-कभी ऐसा होता है कि मन में यह विचार उठता, हाय यह मेरी चाम की जिह्वा व्यर्थ ही मुख रूपी बिल में पड़ी रहती है, इसका मुख्य कर्त्तव्य तो है भगवद् गुणों का गान। इसे न करके यह दूसरे की निन्दा स्तुति तथा परापवाद में ही लगी रहती है। इसकी सार्थकता तो कृष्ण गुणगान में ही है, अहर्निशि यह भगवान् के नामों का उच्चारण करती रहे, यही इसकी सफलता है। इसे मैं सफल बनाऊँगा ऐसा सोचकर लज्जा को त्यागकर भगवद् गुणगान में निमग्न हो जाते, प्रहरों भगवन्नाम कीर्तन ही करते रहते। बीच-बीच में हुँकारी भरते, विह्वल होते, छटपटाते, रोते-चिल्लाते उसी

आवेश में लोक लाज छोड़कर नाचने लगते। नाचते-नाचते उन्हें भगवद् भाव का आवेश आ जाता तो भगवान् की मधुमय लीलाओं का अनुकरण करने लगते। कभी गोवर्धन को उठाने का अनुकरण करते, कभी गौयें चराने की लीला करते, कभी धनुष-बाण धारण करके राघव लीलाओं को दिखाते। कभी वनगमन की-सी लीला करने लगते।

कभी-कभी भगवद् ध्यान में ऐसे तल्लीन हो जाते कि यह अनुभव करते कि श्रीहरि मुझे अपने कर-कमलों से उठाकर अपनी छाती से लिपटा रहे हैं। भगवान् के स्पर्श को पाकर उनका रोम-रोम खिल जाता, सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो जाता, वाणी रुद्ध हो जाती और प्रियतम के आलिङ्गन सुख से शरीर को शिथिल किये नेत्र बन्द किये अविचल भाव से बैठकर आनन्दाश्रुओं को बहाते रहते। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि दो मुँदें हुए कमलों से ओस में कण झरझर-झरझर, झर रहे हों।

उनकी दशा बहुत ऊँची हो गई थी। यह दशा कामी और विषयियों को प्राप्त होनी कठिन ही नहीं असम्भव है। यह तो निष्किञ्चन भगवद्भक्तों के निरन्तर के सहवास से, हृदय से की हुई भगवत् परिचर्या से उन्हीं की अहैतुकी कृपा से प्राप्त हो सकती है। जिसे ऐसी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह स्वयं तो तर ही जाता है, अपने समीपवर्ती अन्य सभी को तार देता है, वह तरणतारण बन जाता है। प्रह्लादजी अपनी बढ़ी हुई भगवद्भक्ति से अन्य कुसंगग्रस्त पुरुषों को बारम्बार शान्ति प्रदान करने लगे। उनके चित्त में भी आनन्द का स्त्रोत बहाने लगे। उन्हें भी अपने उत्कट स्नेह से आह्लादित करने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहने लगे—"राजन्! ऐसे भगवद्भक्त अनुरागी साधु स्वभाव के पुत्र प्रह्लाद से भी उनके हरिद्रोही पिता हिरण्यकशिपु ने विरोध किया। यह विरोध अन्त यहाँ

तक बढ़ा कि भगवान् को नृसिंहावतार लेकर प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा।''

इस बात को सुनकर आश्चर्य के साथ धर्मराज ने पूछा—

''ब्रह्मन्! पिता ने अपने पुत्र से विरोध क्यों किया? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है।''

इस बात पर नारदजी ने कहा—''राजन्! इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है। विरोध पति-पत्नी में, भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, सगे-सम्बन्धों में सभी में हो जाता है।''

यह सुनकर धर्मराज बोले—''नहीं भगवन्! मेरा अभिप्राय यह था कि पुत्र कैसा भी हो, पुत्र ही है। अयोग्य, मूर्ख, पुत्रों के प्रति भी माता-पिता का अनुराग, मोह होता है। यों शिक्षा के लिये डाँट-डपट दें, यह तो दूसरी बात है, किन्तु उससे द्वेष करके उसे मार डालने का विचार करें, यह तो आश्चर्य की ही बात है। प्रह्लाद तो महात्मा ही थे। उनके सम्बन्ध में अधिक मैं क्या कहूँ। जब आप तीनों लोकों के वन्दनीय चौदहों भुवनों में समान रूप से सम्मान पाने वाले भगवत् स्वरूप सन्त जिनके गुणों का वर्णन करते-करते अघाते नहीं, उनकी महत्ता के विषय में विशेष कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। ऐसे सरल सदाचारी धर्मात्मा पुत्र से उसके पिता ने ही द्वेष क्यों किया? इस विषय को सुनने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें तो उसका कारण विस्तार के साथ मुझे बतावें।''

इस बात पर नारदजी ने कहा—''राजन्! द्वेष का कारण है, अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण। चाहे कितना भी निकटतम सम्बन्धी हो, यदि वह हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है, जिसके लिये हम मना करते हैं उसे हठ पूर्वक करता है तो उससे विरोध हो ही जाता है। उसका हम कुछ अनिष्ट करने का प्रयत्न करते ही हैं। प्रयत्न करने पर भी जब हम उसका कुछ बिगाड़ नहीं

सकते, तब हमारे हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है। हम उसका जैसे बने तैसे अधिकाधिक अनिष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। यही बात हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के सम्बन्ध में हुई।''

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—''हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से क्या कराना चाहता था, किस बात के लिये मना करता था? फिर यह बात यहाँ तक कैसे बढ़ गई कि पिता ने पुत्र का वध करने के लिये द्रोह किया। ब्रह्मन्! इन सभी बातों को सुनाकर मेरे बढ़े हुए कुतूहल को शान्त कीजिये।''

इस पर नारदजी कहने लगे—''राजन्! सुनिये, अब मैं महाभागवत प्रह्लादजी का आरम्भ से ही चरित्र सुनाता हूँ।''

सूतजी कहते हैं—''मुनियो! जिस प्रकार नारद जी ने धर्मराज को प्रह्लाद चरित सुनाया और जैसे मैंने अपने गुरुदेव भगवान् शुक के मुख से महाराज परीक्षित् की सभा में सुना था, उसे ही मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।''

छप्पय

जिनकी लखिकै भक्ति सनी जन होहिँ, सुखारे।
हिरनकशिपु हरि नाम सुनत फटकारे मारे।।
गृरुगृह भेजे पढ़न पढ़े का पढ़े पढ़ाये।
राजनीतिके दाव पेंच तिनि मन नहिं भाये।।
पूछे इक दिन पुत्रतें, अंक लाइ पुनि चूमि मुख।
सुत! प्रिय तोकूँ का लगे, कौन काजतें होहि सुख।।

पिता पुत्र में मतभेद

(४६२)

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनाम्
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपम्
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० ५ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सुनि बोले प्रह्लाद—पिताजी! बुरो न मानें।
हम तो जगमहँ भली बात जाईकूँ जानें।।
रहे सदा उद्विग्न चित्त घर दारा धनमहँ।
तातें तजिके मोह सबनिकी जावे वनमहँ।।
यह अपनो यह परायो, अभिनिवेश मिथ्या तजे।
जगकी आशा छोड़िके, प्रेम सहित प्रभुकूँ भजे।।

विरोध तब होता है, जब दो विभिन्न स्वार्थ एक साथ में आकर टकराते हैं। बहुत से लोग हैं जो हमारे मत से सहमत नहीं हैं। उनसे हम लड़ने नहीं जाते कि तुम हमारे विपरीत विचार क्यों रखते हो। किन्तु जो हमारा पुत्र है, आश्रित है, पालनीय है, सगा सम्बन्धी या अधीन है, यदि वह हमसे विरुद्ध विचार रखता है तो

✯ *अपने पिता के पूछने पर प्रह्लादजी कह रहे हैं—"असुरवर्य! जिन लोगों की बुद्धि ममता रूप अभिनिवेश से सदा उद्विग्न बनी रहती है, उनके लिये मैं यही सर्वश्रेष्ठ बात समझता हूँ कि आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले इस गृहस्थी रूप अन्धकूप को त्यागकर वन में चला जाय और वहाँ श्रीहरि का ही आश्रय लेले। उन्हीं के शरण हो जाय।"*

हमें दु:ख होता है। यदि उन विचारों को वह हमारे सम्मुख व्यक्त करता है तो हमें उससे भी अधिक क्लेश होता है। अपने विचारों को व्यक्त ही न करे, अपितु हमारे विचारों की अवहेलना करे, उन्हें हेय और उपेक्षनीय सिद्ध करे, आज्ञा का उल्लंघन करे तो बाध्य होकर उसे हमें यथोचित दण्ड देना पड़ता है। इसमें न सुरों का दोष न असुरो का, यह स्वाभाविक नियम है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—"राजन्! जिस प्रकार प्रह्लादजी का अपने पिता हिरण्यकशिपु से मतभेद हुआ, उस प्रसंग को मैं आपको सुनाता हूँ। प्रह्लादजी की माता का नाम कयाधू था। कयाधू के पेट में सहस्त्रों वर्ष रहने के अनन्तर प्रह्लादजी उत्पन्न हुए। उत्पन्न होते ही ये भक्ति सम्बन्धी ही खेल-खेलने लगे। छोटे बच्चे क्या खेल-खेलते हैं, इसकी ओर बड़े ध्यान नहीं देते। विशेष कर छोटा बच्चा माता के ही समीप रहता है जैसे स्वभाव की माता होती है, प्राय: वैसा ही स्वभाव बालक का बन जाता है। प्रह्लादजी की माता तो राजन्! मेरी शिष्य सेविका ही थी, इसलिये उसे तो भगवद् सम्बन्धी खेलों में, भगवन्नाम सङ्कीर्तन में, भगवान् की कथाओं में कोई आपत्ति थी ही नहीं, अपितु वह अपने पति से सदा डरती थी कि इन्हें बच्चे के मनोभाव विदित न हो जायँ। अत: वह शक्ति भर उनके भावों को छिपाये रखने की चेष्टा करती। इस प्रकार शनै:-शनै: प्रह्लादजी की अवस्था ५-६ वर्ष की हो गई।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपनी पत्नी कयाधू से कहा—

"सुनती है? प्रह्लाद अब पढ़ने योग्य हो गया है। इसे अब गुरु गृह पढ़ने को भेजना चाहिये।"

इस पर कयाथू ने कहा—"पढ़ने कहाँ भेजें, हम लोगों के पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य तो सुना कहीं बाहर चले गये हैं, और अभी शीघ्र लौटकर आने वाले नहीं।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"भगवान् भार्गव नहीं हैं तो उनके शण्ड और अमक नामर्क दो पुत्र तो हैं। जैसे ही गुरु वैसे ही गुरु पुत्र। जब तक गुरुजी नहीं आते हैं, तब तक गुरु पुत्रों के पास ही प्रह्लाद पढ़ेगा।"

कयाधू ने कहा—"अच्छी बात है, कल पट्टी पुजवा दो पूजन, कराके प्रसाद बँटवाओ। कल शुभ मुहूर्त में अक्षरारम्भ हो जाय।"

इस पर धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! शुक्राचार्य तो ब्राह्मण ऋषि थे, उनके पुत्रों के ये शण्ड अमर्क और अशुभ और रूखे नाम क्यों हुए?'

हँसकर नारदजी बोले—"अब राजन्! इसका क्या उत्तर दूँ, संसर्ग का भी तो कुछ दोष है। असुरों के पुरोहितों के ऐसे ऊटपटांग नाम स्वाभाविक ही हैं। कुछ तो असुरपना आना ही चाहिये। हाँ तो दूसरे दिन शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त में बड़ी धूमधाम के साथ प्रह्लादजी का अक्षरारम्भ हुआ। अब वे नियमित रूप से चटसार जाने लगे। पण्डितजी से पाठशाला में पाठ पढ़ने लगे। और भी असुरों के बहुत से बालक उनके पास पढ़ने आते, प्रह्लादजी भी पट्टों और पाठ्य-पुस्तक लेकर प्रेमपूर्वक पढ़ने आते। कभी घर चले जाते कभी गुरुगृह में ही रह जाते। गुरु पुत्र नीतिशास्त्र के बड़े पण्डित थे, अत: वे बालकों को राजनीति की ही शिक्षा दिया करते। शत्रु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये। साम का प्रयोग कैसे किया जाता है। दान देकर शत्रु के तथा शत्रु के पक्षीय लोगों को किस प्रकार वश में किया जाता है। शत्रु के शत्रुओं में तथा शत्रु के राज्य में भेद कैसे डाला जाता है। सन्धि कैसे की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर दण्ड कैसे दिया जाता है, दण्ड के कितने भेद हैं, किस स्थान पर कैसा दण्ड उपयुक्त होता

है, आदि-आदि ऐसी ही नीति की शिक्षा के सबको देते थे। प्रह्लादजी की बुद्धि अत्यन्त ही तीव्र थी। वे ज्यों ही गुरु जी के मुख से सुनते, त्यों ही उसे फट्ट ज्यों-का-त्यों सुना देते। गुरुपुत्रों को उनकी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा को देखकर आश्चर्य होता था और मन-ही-मन प्रसन्न होते कि ऐसे शिष्य को शीघ्र ही पढ़ाकर राजा से अधिक-से-अधिक पारितोषिक लेंगे।''

प्रह्लादजी पढ़े हुए पाठ को तुरन्त सुना देते थे, किन्तु उन्हें ये राजनीति की बातें अच्छी नहीं लगती थीं। उनमें सदा ये ही बातें रहती थीं यह अपना है, यह पराया है, यह शत्रु है। यह मित्र है। प्रह्लादजी तो समदर्शी थे, वे तो मन से किसी को शत्रु मानते नहीं थे। इसीलिये ऐसी असद् आग्रह से युक्त बातें उन्हें अच्छी नहीं लगती थीं, फिर भी पिता की आज्ञा मानकर वे पढ़ते थे।

एक दिन की बात है कि प्रह्लादजी ने पुस्तक पट्टी रख कर पिता के पादपद्मों में अत्यन्त विनीत होकर प्रणाम किया। अपने अति सुन्दर फूल के समान सुकुमार पुत्र की ऐसी विनय और भक्ति से दैत्यराज अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने स्नेह से पुत्र को उठाकर अपनी गोदी में बिठा लिया और बार-बार मुख चूमकर प्यार करके बोला—''बेटा! आजकल तू क्या पढ़ता है? हमें भी कुछ सुना।''

नम्रता के साथ प्रह्लादजी ने कहा—''पिताजी! जो आज्ञा हो, वही सुनाऊँ।''

जैसे कि बच्चों से हँसी करते हैं, वैसे ही दुलार से हँसी करते हुए हिरण्यकशिपु ने कहा—''अच्छा, तू यह बता कि संसार में तुझे सबसे अच्छी बात कौन-सी लगती है। तेरे मन में पुरुष का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य कौन है?''

प्रह्लादजी बिना पैंदी के लौटा तो थे नहीं जिधर भारी पड़ा उधर ही लुढ़क गये। उनका तो एक निश्चित सिद्धान्त था। मनुष्य

के पेट के भीतर जो पदार्थ होगा, उसी के उद्‌गार बाहर आवेंगे। अतः वे अपने पिता से बोले—"पिताजी! मैं तो संसार में प्राणियों

के लिये सर्वश्रेष्ठ बात यही समझता हूँ कि अहंता ममता रूप असद् अभिनिवेश से जिनकी बुद्धि सदा उद्विग्न बनी रहती है, उन्हें इस बिना पानी के अँधे कूआँ रूप गृहस्थाश्रम का तुरन्त परित्याग कर देना चाहिये। इस गृहस्थाश्रम में दुःख के अतिरिक्त सुख क्या है। क्षण भर का जिह्वा तथा उपस्थ का सुख है जो परिणाम में दुखद ही है। इनके सेवन से आत्मोन्नति न होकर आत्मपात होता है, अतः मेरे मत में संसारी विषयों से विरक्त होकर निरन्तर प्रभु पादपद्मों का ध्यान करते रहना और श्रीहरि की शरण में जाना, यही सर्वश्रेष्ठ कार्य है। यही सबसे सुन्दर बात है।''

श्रीनारदजी कहते हैं—''राजन्! जैसे साँप को छोड़ देने से वह फुफकारने लगता है, जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि में आहुति डालने से वह और भी अधिक जलने लगती है, वैसे ही भगवान् का नाम सुनते ही उसका हृदय द्वेष से जलने लगा। फिर उसने प्रह्लाद की ओर देखा। छोटा-सा-नन्हा सा बच्चा है, बातें ऐसी कर रहा है मानों देवगुरु बृहस्पति उपदेश दे रहे हों। छोटे मुँह बड़ी बात सुनकर दैत्यराज का क्रोध शान्त हो गया और उसे बच्चे की भोली-भाली बात पर हँसी आ गई। राजन्! लोग तो कहते हैं बालबुद्धि कच्ची होती है, किन्तु मुझे तो बालकपन बहुत प्रिय है। मेरी शक्ति चले तो मैं सदा बालक ही बना रहूँ। बालक जो भी अपराध कर दे, सब क्षम्य है। कितना भी बड़ा अपराध क्यों न हो जाय, माता-पिता जब बच्चे को डाँटते हैं तो दूसरे उन्हें समझाते हुए कह देते हैं—''अजी, जाने भी दो। बालक ही ठहरा। बच्चों की बात पर ध्यान नहीं देते। बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी बात पर ध्यान दिया जाता है, वह दोषी और अपराधी ठहराया जाता है। यद्यपि हिरण्यकशिपु के लिये भगवान् का नाम लेना बहुत बड़ा अपराध था। फिर भी प्रह्लाद को बालक समझकर वह हँस पड़ा और

अपने आप ही बोला—"देखो, इसका नाम है लड़कपन। लड़कों की बुद्धि इसी प्रकार दूसरों के बहकाने से बिगड़ जाती है। परन्तु बाल्यकाल के संस्कार अमिट होते हैं, अतः मुझे इनकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अभी से इसका कुछ प्रबन्ध करना चाहिये।" यह कहकर उसने अपने एक गृह कार्य करने वाले मन्त्री को बुलाया और उससे कहने लगा—"देखो, अब इसके घर आने की आवश्यकता नहीं। वहाँ गुरुगृह में ही इसे सावधानी से रखो। उन ब्राह्मणों से कहना, इसकी अधिक देख-रेख रखे। विष्णु के पक्षपाती गुप्तवेष बनाकर विचरते रहते हैं और सरल चित्त वाले भोले-भाले लोगों को इधर-उधर की बातें बताकर वैष्णव बना लेते हैं। जहाँ मनुष्य वैष्णव बना कि उसकी लौकिकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह निरर्थक बन जाता है, किसी भी काम का नहीं रहता। शत्रुओं पर क्रोध नहीं करता। अपने पास जो होता है, बेकार लोगों को लुटा लेता है। इसलिये वैष्णवों से इसे सब प्रकार से बचाना। गुरु पुत्रों से डाँट-डपटकर मेरी ओर से कह आना।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर हिरण्यकशिपु ने तुरन्त प्रह्लाद को मन्त्री के हाथों गुरुगृह भेज दिया। मन्त्री ने जाकर गुरुपुत्रों से कहा—"विप्रो! आपने इस राजकुमार को क्या अंट-संट पढ़ा दिया। महाराज आज बहुत बिगड़ रहे थे। यह तो हम असुरों के सर्वथा विरुद्ध बातें कह रहा था। आपको उन्होंने चेतावनी दी है कि इसकी भली-भाँति देखरेख रखें। प्रतीत होता है, आपके यहाँ कोई विष्णु का पक्षपाती देवताओं का गुप्तचर छिपकर रहता है, वही बालकों की बुद्धि को बिगाड़ता है।"

राजा के क्रोध की बात सुनकर गुरुपुत्र तो डर गये। वे विनय के साथ बोले—"मन्त्री! हमने तो कुमार को कोई ऐसी बात सिखाई नहीं। रही देवताओं के गुप्तचर की बात, सो आप् गिन लें।

हमारी पाठशाला में जितने लड़के हैं, सब असुरों के ही विश्वासनीय बालक हैं। ऐसी विरुद्ध बातें इसने दैत्यराज के सम्मुख कैसे कहीं। हमें भी आश्चर्य है। अच्छी बात है। हम इससे पूछेंगे। आप महाराज को हमारी ओर से कह दें, हम कुमार की आज से बहुत सावधानी रखेंगे और इस बात का तत्परता के साथ पता लगावेंगे कि इसकी ऐसी विपरीत बुद्धि किस कारण से हुई। कारण को जानकर उसका प्रतीकार करने की शक्ति भर चेष्टा करेंगे।'' यह सुनकर मन्त्री चला गया। मन्त्री के चले जाने पर उन दोनों गुरुपुत्रों ने प्यार से प्रह्लादजी को अपने पास बुलाया। उन्हें गोदी में बिठाकर बड़े दुलार से उनकी टोढ़ी में हाथ देकर पूछने लगे—''प्रह्लाद! देख, बेटा! हम तुमसे एक बात पूछते हैं, बोल सच-सच बतावेगा? झूठ तो न बोलेगा?

प्रह्लाद ने कहा—''गुरुजी! जो पूछना हो पूछिये?''

गुरुपुत्रों ने फिर कहा—''पूछते तो भैया! किन्तु देख, इस बात का ध्यान रखना, हम तेरे गुरु हैं। हमारे सम्मुख कोई बनावटी बात बताई तो बड़ा भारी पाप लगेगा। वैसे हम तुझे जानते हैं, तू तो राजा का बेटा है, कभी झूठ नहीं बोलता तू बड़ा अच्छा बच्चा है।''

प्रह्लादजी ने कहा—''गुरुजी! आप मेरा विश्वास करें आप जो पूछेंगे उसका मैं सच-सच उत्तर दूँगा।''

गुरुपुत्रों ने कहा—''अच्छा, तू यह बता, तैंने जो अपने पिता के सम्मुख ऐसी अंट-संट बातें बकी थीं वे तुझे किसने सिखाई? हमने तो कभी सिखाई नहीं। इन बालकों में से किसी ने सिखाई हों तो उसका हमें नाम बता दे और किसी भिखारी ने गुप्त वेष बनाये पण्डित, ज्योतिषी, साधु या अन्य गुप्तचर ने बताई हों तो उसका परिचय दे दे या तैंने अपने मन से ही कहीं हो तो यही

बता दे, तैंने ये सब बातें कैसे जानीं। बात यह है कि देख, करता तू है और दोष हमारे सिर पर आता है। तू बताने वाले का हमें परिचय दे दे तो हम फिर इसका कुछ उपाय करें, आगे के लिये सावधान हो जायँ।''

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—''राजन्! गुरुपुत्रों की ऐसी बातें सुनकर प्रह्लादजी मुस्कराये और फिर उनके प्रश्नों का बड़े सुन्दर ढङ्ग से उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।''

छप्पय

सुनि हँसि बोल्यो असुर-होहिँ भोरे बालक अति।
जो दे जैसी सीख होहि तैसी तिनकी मति।।
वेष बदलिकें विष्णु-भक्त जाके ढिँग आवें।
कहि कहि हरिको सुयश सरल शिशकूँ बहकावें।।
सेवक शासन सुनों सब, सावधान सबई रहो।
बाबाजिनितें बचावें, गुरु पुत्रनितें तुम कहो।।

प्रह्लादजी के उत्तर से गुरुपुत्रों का कोप

(४६३)

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती।। ✯

(श्री० भा० ७ स्क० ५ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

आज्ञा सुनि प्रह्लाद तुरत गुरुगृह पहुँचाये।
असुर कहे जे वचन सेवकनि जाइ सुनाये।।
पूछें सण्डामर्क कुमरतें नेह सहित अस।
किनके वश तू भयो भई विपरीत बुद्धि कस।।
हँसि बोले प्रहलाद गुरु! कौन काहिको वश करें।
हरि ई सबकी बुद्धिकूँ, जब चाहें तब तस करें।।

जन्म लेते ही जीव पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार कार्य करने लगता है। गौ बच्चा देते ही उसे चाटने लगती है। बच्चा पैदा होते ही उठने का प्रयत्न करता है और माँ के स्तनों को खोजने लगता है। स्तन नहीं पाता तो अगले पैरो के बीच में हुई हुड्डु मारता है। पुनः खोजते-खोजते स्तनों को पा जाता है, तो दूध पीने लगता है। यह सब उसे किसने सिखाया? कहना होगा कि उसके जन्म जन्मान्तर के संस्कार थे जिन बातों का पूर्वजन्म में संस्कार न होगा, आप लाख प्रयत्न करें वह बात आवेगी ही नहीं। आवेगी तो

✯ *गुरुपुत्रों के पूछने पर प्रहादजी कहते हैं—"उन प्रभु की जब जीवों पर अनुग्रह होती है, तब उनकी पशुबुद्धि नष्ट हो जाती है, जिस मिथ्या बुद्धि के कारण ही, यह मैं हूँ यह अन्य है, ऐसा भेद भाव होता है।"*

बहुत प्रयत्न करने पर कुछ संस्कार बनेंगे। अगले जन्मों में वे काम देंगे। कुछ कार्यों के संस्कार अधूरे होते हैं, जो इस जन्म में गुरु के द्वारा पूरे किये जाते हैं। कुछ संस्कार पूर्ण रहते है उनमें तनिक-सी कोई त्रुटि हो जाने से भगवद् इच्छा से इस धराधाम पर जन्म लेना पड़ता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा तो पूर्वजन्मों में पूर्ण हो चुकी है। इस जन्म में उसे पूर्ण नहीं करना पड़ता। प्रारब्ध के भोग भोगकर फिर संसार का आवागमन छूट जाता है। ऐसे लोगों को जब स्वत: ही उन धर्मों का आचरण करते देखते हैं तो अज्ञानी लोग कोई उन्हें स्वयम्भू बताते हैं, कोई मन्मुखी कहकर हँसी उड़ाते हैं, कोई निगुरा कहकर तिरस्कार करते हैं। अपने को विद्वान् और शिक्षा दीक्षा का आचार्य समझने वाले आश्चर्य करते हैं कि इसने इतना ज्ञान सीख किससे लिया। इसे इतनी विद्या आ कैसे गई? यह इतना साधन सम्पन्न स्वत: ही कैसे बन गया। उन्हें यह पता नहीं कि इन सबकी शिक्षा-दीक्षा इसे पूर्वजन्मों में जन्म लेने के पूर्व ही प्राप्त हो चुकी है और उसे यह पूरा कर चुका है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! जब गुरुपुत्रों ने प्रह्लादजी से प्रेमपूर्वक पूछा कि भगवद्भक्ति की शिक्षा तुझे किसने दी है, तब वह कहने लगे—"देखिये महाराज! उत्तर देने के पूर्व में मङ्गलाचरण कर लूँ।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अच्छी बात है, मङ्गलाचरण करके ही उत्तर दो।"

यह सुनकर प्रह्लादजी कहने लगे—"जिसकी अचिन्त्य माया से मोहित होकर जीव, यह मेरा है, यह तेरा है, यह अपना है, यह पराया है ऐसी भेद बुद्धि करता है। मिथ्या दुराग्रह के कारण जिनकी बुद्धि मोहग्रस्त हो रही है। उस माया के पति भगवान् वासुदेव को प्रणाम है।

गुरुपुत्रों में कहा—"अरे, भैया! तू किसको प्रणाम कर रहा है। यह भेद भाव तो अनादि हैं। स्वभावानुसार है। प्रह्लादजी ने कहा—"गुरुओं! संसार में यही पशु बुद्धि है, यही अज्ञान है कि यह मेरा है, यह पराया है। जब सर्वान्तर्यामी हरि की जीवों पर कृपा होती है या जब जीव उनकी कृपा की अनुभूति का अधिकारी बन जाता है तो यह भेदभाव नष्ट हो जाता है। भगवान् की कृपा अनुग्रह साध्य है, अत: सदा सर्वदा भगवद् अनुग्रह की प्रतीक्षा करते-करते कभी-न-कभी करुणेश कृपा करते ही हैं।"

इस पर गुरुपुत्रों ने क्रोधपूर्वक कहा—"अरे तू क्या अंट-संट बक रहा है। किसने तेरी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है? हम जो बात पूछते हैं, उसे तो बताता नहीं। अनुग्रह प्रतीक्षा, साधन, साध्य न जानें क्या-क्या बिना सिर पैर की बातें कर रहा है। चला है हमें ज्ञान सिखलाने को। अरे, यह बता कि तेरी बुद्धि को किसने भ्रष्ट कर दिया है, कितने तुझे यह उलटी पट्टी पढ़ाई है।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"मूर्ख लोग जो आत्मा में अपने परायेपन का आरोप करते हैं, यह सत्य नहीं। बुद्धिहीन पुरुष ही ऐसा निरूपण करते हैं। जिन्हें प्रभु की कृपा प्राप्त हो चुकी है वे ऐसी विपरीत बातें त्रिकाल में भी नहीं करते। उन मदनमोहन की मोहिनी माया बड़ी ही दुर्गेय है। बड़े-बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मादिक देवगण भी उसके मोह में पड़कर मोहित हो जाते हैं। उन्हीं मदनमोहन ने मेरी बुद्धि में भेदभाव उत्पन्न कर दिया है।

मैं क्या करूँ ब्राह्मणो! आप मेरे गुरु हैं, मैं सत्य कहता हूँ, किसी व्यक्ति ने मुझे बहकाया नहीं है। मेरा मन उनकी ओर स्वत: उसी प्रकार आकर्षित हो जाता है जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित हो जाता है। जैसे मन के सम्मुख विषय आने से स्वत: ही वह उनकी ओर खिंच जाता है, जैसे ढालू पृथ्वी पर पड़ा पानी

स्वत: ही नीचे को बहने लगता है उसी प्रकार भगवान् के नाम गुणों की ओर मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।''

इस पर गुरुपुत्रों ने कहा—''तू बड़ा ढीठ है रे लड़के! हम समझते थे, तू बच्चा है, किन्तु तू तो हमें भी उपदेश देने लगा। छोड़ इन व्यर्थ की बातों को।''

गुरुपुत्र को क्रोधित देखकर प्रह्लदजी ने फिर उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। वे मौन हो गये।

गुरुपुत्रों ने जब देखा कि यह तो हमारी बातों की अवहेलना करता है, हमारी आज्ञा नहीं मानता, तब तो उनका क्रोध सीमा का उल्लंघन कर गया। क्रोध में भरकर दाँतों को किटकिटाकर वे बोले—''अरे, दुर्मुख! भीतर से हमारा बेंत तो उठा लाना। यह बिना पीटे न मानेगा। जब पीठ पर सड़ासड़ १०-२० बेंत पड़ेंगे तब इसकी बुद्धि ठिकाने आवेगी।''

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—''राजन्! दासता से बढ़कर कोई पाप नहीं। आश्रितों को सदा अपने आश्रयदाता का रुख देखकर बातें करनी पड़ती हैं। उसे प्रसन्न करने के लिये भाँति-भाँति की चेष्टायें करनी पड़ती हैं। ये शंड और अमर्क तो हिरण्यकशिपु के आश्रित ही ठहरे। राजा को प्रसन्न करने के निमित्त उसके पुत्र से वे कहने लगे—''अरे, ओ नीच! राजकुमार! अपने कुल का नाश मत कर। एक कुल्हाड़ी लेकर वन को काटने वाले पुरुष को देखकर वन के वृक्षों ने कुल्हाड़ी से कहा था—''कुल्हाड़ी! तू हमें क्या काट सकती थी, किन्तु करें क्या तुझमें बेंट हमारी जाति-लकड़ी का ही पड़ा है। घर भेदी की लङ्का ढा देता है। तू इस असुर रूप चन्दन के वन में काँटों का वृक्ष बनकर उत्पन्न हुआ है। तेरे कारण इस सम्पूर्ण कुल का नाश होगा। अभी से तू अपने शत्रु के गीत गाता है, उसी की भक्ति करता है। विष्णु दैत्यों के लिये

कुल्हाड़ी है, तू उसका बेंट है। तेरे सहारे ही वह असुर कुल का नाश कर डालेगा।''

नारदजी कहते हैं—''राजन्! इस प्रकार उन गुरुपुत्रों ने प्रह्लादजी को बहुत-सी उलटी-सीधी कहने-न-कहने योग्य बातें सुनाईं, किन्तु प्रह्लादजी ने गुरु के गौरव से उसमें से किसी का उत्तर नहीं दिया, वे चुपचाप उनकी बातें सुनते रहे। अन्त में गुरुपुत्रों ने कहा—''अच्छी बात है, आज तो हम तुझे क्षमा करते हैं। अब फिर तैंने ऐसी बातें कीं तो हम बिना मारे न छोड़ेंगे। अब हम जो शिक्षा दें उसी को ग्रहण करना। इस प्रकार विविध उपायों से प्रह्लादजी को भय दिखाकर उन्हें अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति कराने वाली विद्या की शिक्षा देने लगे। प्रह्लादजी को ये बातें अच्छी तो लगती नहीं थीं, किन्तु गुरुगौरव से उन सबको श्रद्धा सहित सुनते रहते थे।''

छप्पय

अति कोप्यो गुरुपुत्र कहें अति खल जिहि बालक।
कुलाङ्गार दुर्बुद्धि असुर कुलको संहारक।।
लाओ मेरी बेंत न मानें बात पिताकी।
हड्डी पसली तोरि उधेडूँ चमड़ी जाकी।।
चन्दनवन यह असुर कुल, विष्णु कुल्हाड़ी सम भयो।
मूलोच्छेदन करन हित, बेंट सरिस जिस ह्वै गयो।।

(इसके आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये)

।।श्री हरि।।

श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१. भागवती कथा-११८ खण्डों में प्रति खण्ड का मू० २५.०० डाक व्यय पृथक
२. श्री भागवत चरितमूल-लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द ७५.००
३. सटीक भागवत (दो खण्डों में) एक खण्ड का १०१.००
४. बदरीनाथ दर्शन—बदरीनाथ यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ २५.००
५. महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृष्ठ सं० ३५० २५.००
६. मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप १५.००
७. भक्तचरितावली प्रथम खण्ड २५.०० द्वितीय खण्ड २०.००
८. मुक्तिनाथ दर्शन १५.००
९. गोपालन शिक्षा १५.००
१०. श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में) सजिल्द १००.००
११. श्रीकृष्ण लीला दर्शन (तीन खण्डों में) ६३.००
१२. श्री शुक—श्री शुकदेव जी के जीवन की झाँकी (नाटक) ७.००
१३. शोक शान्ति–शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र ५.००
१४. मेरे महामना मालवीय जी ३.००
१५. बाल महाभारत ५.००
१६. भारतीय संस्कृति और शुद्धि (शास्त्रीय विवेचन) ५.००
१७. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र (छप्पय छन्दों में) ५.००
१८. सत्यनारायण की कथा छप्पय छन्दों सहित ५.००
१९. हर! हर!! हर!!! हरीतकी रसायन १२.००

२०. भागवत चरित संगीत सुधा	५.००	२९. प्रयाग माहात्म्य	२.००
२१. प्रयाग पंचकोशी परिक्रमा	१०.००	३०. वृन्दावन माहात्म्य	१.००
२२. महावीर हनुमान	१२.००	३१. प्रभुपूजा पद्धति	५.००
२३. सार्थ छप्पय गीता	२५.००	३२. बिल्व फल अमृत फल	७.००
२४. श्री हनुमत शतक	३.००	३३. नर्मदा दर्शन	२०.००
२५. छप्पय विष्णु सहस्त्रनाम	१५.००	३४. श्री छप्पय दुर्गासप्तशती	७.००
२६. राघवेन्दु चरित	२०.००	३५. नाम संकीर्तन महिमा	७.००
२७. भागवती कथा की बानगी	१५.००	३६. निःश्वास	२.००
२८. भागवत चरित की बानगी	५.००		

पुस्तकों के आर्डर के साथ पूरा मूल्य एवं डाक खर्च चुका देने पर आपके पास रजिस्ट्री से पुस्तकें भेज दी जायेंगी।

पता–व्यवस्थापक–संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग, पिन २२१५०६